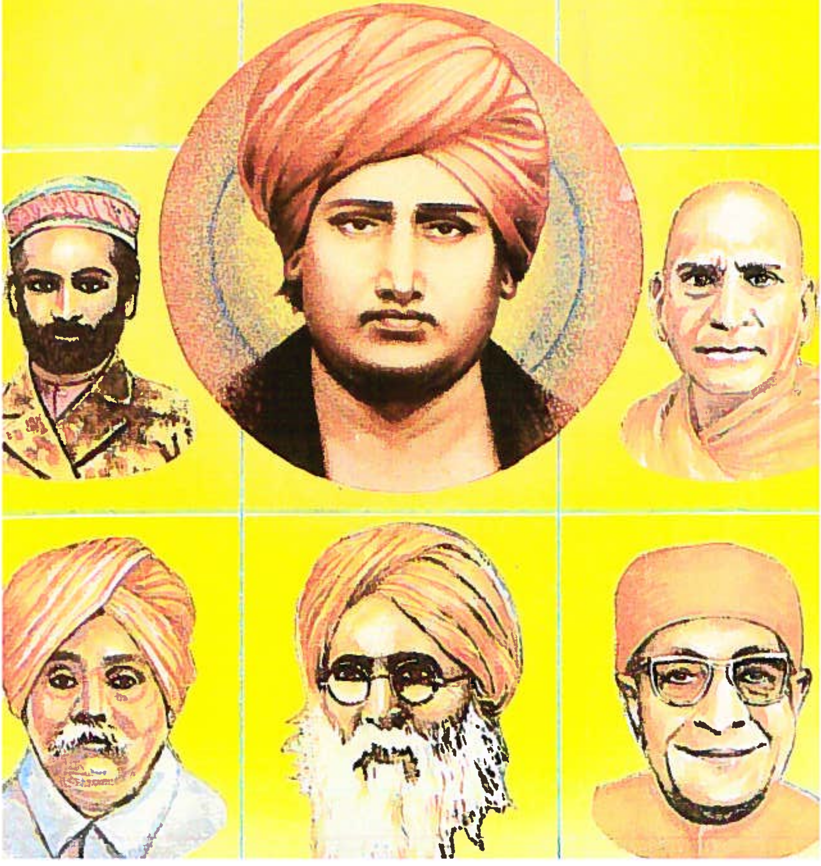
ओ३म्

आर्य समाज के बीस बलिदानी

डॉ० भवानीलाल भारतीय



ओ३म्

आर्यसमाज के

बीस बलिदानी



डॉ० भवानीलाल भारतीय

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द

भूमिका

भारत के नवजागरण तथा उसके धार्मिक एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान में आर्यसमाज का जो योगदान है उसे पहले ही इतिहास में अंकित कर लिया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक में उन बीस आर्य नेताओं के जीवन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व का संक्षिप्त परिचय दिया गया है, जिन्होंने आर्यसमाज के माध्यम से स्वधर्म, स्वराष्ट्र तथा स्वसंस्कृति की सेवा की। यद्यपि इन नेताओं के जीवन पर बृहदाकार ग्रन्थों की रचना हुई है, तथापि प्रस्तुत ग्रन्थ की उपयोगिता निर्विवाद है। इस पुस्तक से पाठकों को इन आर्य महापुरुषों के बारे में अधिक जानने की जिज्ञासा होगी, इसी दृष्टि से ग्रन्थ के अन्त में, विषय से सम्बद्ध संदर्भ-ग्रन्थों की एक संक्षिप्त सूची भी दे दी गई है। आशा है इस लघु कलेवरवाली पुस्तक से पाठकों को आर्य नेताओं के लोक-कल्याण के लिए समर्पित जीवन की सही-सही जानकारी प्राप्त हो सकेगी।

८/४२३, नन्दन वन, जोधपुर, —**भवानीलाल भारतीय**
चैत्र शु० प्रतिपदा २०५१ वि०

विषय-क्रम

स्वामी दयानन्द सरस्वती

पिछली शताब्दी में भारत में नवीन जागरण का एक प्रबल आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था। इस धार्मिक और सांस्कृतिक जागृति के सूत्रधार-महापुरुषों में दयानन्द सरस्वती का नाम प्रमुख है। उन्होंने पराधीनता के पाशों में बँधे देशवासियों को स्व-धर्म, स्व-भाषा, स्व-संस्कृति तथा स्वदेश-प्रेम का पाठ पढ़ाया, उन्हें अपने गौरव की पहचान करके एक सुखद भविष्य के निर्माण की प्रेरणा दी।

दयानन्द सरस्वती का जन्म गुजरात के काठियावाड़ प्रदेश की एक छोटी-सी देशी रियासत मोरवी के ग्राम टंकारा में हुआ। उनके पिता करसनजी लालजी तिवारी औदीच्य ब्राह्मण थे। उनके परिवार में शिवोपासना को प्रमुखता प्राप्त थी। स्वामी दयानन्द का बचपन का नाम मूलशंकर था। वे अपने पिता की सबसे बड़ी सन्तान थे। उनका जन्म १८२४ ई० में हुआ।

बचपन में मूलशंकर के जीवन में एक-दो घटनाएँ ऐसी घट गईं, जिनके कारण उनका भावी जीवन एक नवीन मोड़ ले सका। वे अपने प्रबल आन्दोलन के द्वारा देश, समाज तथा सम्पूर्ण मानवता के हित में जुटे रहे।

अभी वह किशोर थे कि पिता के आदेश पर उन्होंने शिवरात्रि को उपवास किया। रात्रि-जागरण के लिए वे पास के एक शिवालय में गए। वहीं उन्हें मूर्तिपूजा की निस्सारता का ज्ञान हुआ। एक चूहे को शिव-प्रतिमा पर स्वच्छन्द रूप से क्रीड़ा करते देखकर उन्होंने जान लिया कि सच्चिदानन्द-स्वरूप परमात्मा कोई और है। जड़ मूर्ति बनाकर उसकी पूजा करना ईश्वर-प्राप्ति का साधन नहीं हो सकता। अपनी छोटी बहिन और प्रिय चाचा की असामयिक मृत्यु ने भी, उन्हें जीवन और मृत्यु के रहस्य पर चिन्तन करने के लिए विवश किया। तब उन्हें सांसारिक जीवन से विरक्ति हो गई। एक दिन वे अपने गृह-परिवार तथा माता-पिता को त्यागकर वैराग्य-पथ के पथिक बन गए।

कुछ काल तक ब्रह्मचारी के रूप में गुजरात में भ्रमण करने के बाद, उन्होंने स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती से संन्यास की दीक्षा ली। अब वे दयानन्द सरस्वती के नाम से विख्यात हुए। कुछ समय तक वे योग-साधना तथा शास्त्रों के अध्ययन में लगे रहे। उनका अनुमान था कि हिमालय पर्वत की चोटियों पर अवश्य ही उच्च कोटि के योगी, साधक तथा अध्यात्म-विद्या के ज्ञाता साधुगण रहते होंगे। जिज्ञासु दयानन्द इन्हीं योगी साधकों की तलाश में उत्तराखण्ड के दुर्गम वन-पर्वतों में पर्याप्त समय तक भ्रमण करते रहे, किन्तु उन्हें इच्छित सफलता नहीं मिली। इसके



विपरीत, उन्होंने देखा कि तीर्थों, मंदिरों, देवस्थानों आदि में पाखण्ड और आडम्बर का बोलबाला है। तब वे हिमाचल की चोटियों से उतर आए और नर्मदा के तटवर्ती प्रदेश में भ्रमण करते रहे। यहीं पर उन्हें मथुरा में निवास करनेवाले एक नेत्रहीन संन्यासी का परिचय प्राप्त हुआ, जो संस्कृत-विद्या के प्रकाण्ड पण्डित थे। व्याकरण-शास्त्र का उन्हें तलस्पर्शी ज्ञाता माना जाता था।

स्वामी दयानन्द १८६० में मथुरा आए। लगभग ढाई वर्षों तक प्रज्ञाचक्षु (नेत्रहीन) संन्यासी स्वामी विरजानन्द के छात्र के रूप में रहे। उनसे व्याकरण, निरुक्त, वेदान्त आदि शास्त्रों का अध्ययन करते रहे। जब उनका अध्ययन समाप्त हुआ, तो गुरु विरजानन्द ने उनसे गुरुदक्षिणा में प्रतिज्ञा कराते हुए वचन लिया कि वे अपना शेष जीवन वेद-विद्या का प्रचार करने, ऋषि-ग्रन्थों के पठन-पाठन, साम्प्रदायिकता के उन्मूलन, तथा देशवासियों में राष्ट्रभक्ति के भावों का प्रचार करने में लगाएँगे। स्वामी दयानन्द ने मौन भाव से गुरु के आदेश को स्वीकार किया और कार्यक्षेत्र में उतर पड़े।

प्रारम्भ में उन्होंने गंगा के तटवर्ती प्रान्तों में भ्रमण करके लोगों को वैदिक धर्म के मूलभूत तत्त्वों की शिक्षा दी। संध्या, अग्निहोत्र, गायत्री-जप आदि वैदिक उपासना-प्रणाली का महत्त्व बताया। वेद-विरुद्ध मूर्तिपूजा, अवतारवाद, मृतक-श्राद्ध आदि से अलग रहने का उपदेश

दिया। उन्होंने काशी, फर्रुखाबाद, कानपुर आदि अनेक नगरों में पुराणपन्थी पण्डितों से शास्त्रार्थ किये। मूर्तिपूजा की अवैदिकता सिद्ध की।

१८७२ के दिसम्बर मास में स्वामी दयानन्द ब्रह्मसमाज के नेता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर तथा अन्य प्रबुद्ध बंगालियों के निमंत्रण पर कलकत्ता गए। पर्याप्त काल तक उन्होंने वहाँ निवास किया। इस अवधि में उन्हें बंगाल के उस शिक्षित भद्रलोक का परिचय मिला जो उन दिनों भारत में धार्मिक, सांस्कृतिक तथा शैक्षिक जागृति के कार्य में लगे हुए थे। देवेन्द्रनाथ ठाकुर के अतिरिक्त केशवचन्द्र सेन, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, रामकृष्ण परमहंस आदि प्रतिष्ठित बंगाली महानुभावों से उनकी भेंट हुई। धर्म, समाज तथा राष्ट्र की व्यापक सेवा के लिए क्या-कुछ किया जाना चाहिए—यह सब सोचने का उन्हें अवसर भी मिला।

१८७५ में जब वे बम्बई में थे, उन्होंने अपने शिष्यों के आग्रह से उस विश्व-प्रसिद्ध आन्दोलन की नींव रखी जो 'आर्यसमाज' के नाम से विख्यात हुआ। यद्यपि आर्यसमाज का आरम्भ महाराष्ट्र की राजधानी बम्बई में हुआ था, किन्तु उसके आदर्श और उपदेशों को स्वीकार करने में हिन्दी-भाषी प्रान्तों के लोग बहुत बड़ी संख्या में आगे आए। पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, बिहार आदि प्रान्तों में आर्यसमाज का व्यापक प्रचार हुआ। मात्र ५९ वर्ष की आयु में स्वामी दयानन्द का ३० अक्तूबर

१८८३ को अजमेर में निधन हो गया।

स्वामी दयानन्द ने वैदिक संस्कृति का पुनरुत्थान किया। भ्रमवश कुछ लोग उन्हें धार्मिक नेता समझते हैं। स्वामी दयानन्द भी धार्मिक ही थे, परंतु उनका धर्म वैदिक निष्ठा का था। वेद केवल मनुष्यता के धर्म में विश्वास करते हैं। वेदों में हिंदू-मुस्लिम आदि मत-मतांतरों की व्याख्या नहीं है।

अपने विस्तृत अध्ययन और शास्त्र-ज्ञान के द्वारा वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि आर्य जाति के सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ वेदों में जिन शिक्षाओं का उल्लेख है, वे देश, जाति, वर्ग, सम्प्रदाय आदि की सीमाओं से परे हैं। उनमें समूची मानव-जाति को ऊँचा उठाने की क्षमता है। इसीलिए उन्होंने वेदों को आर्य जाति का प्रधान धर्म-ग्रन्थ प्रतिपादित किया। वेदों के अनुसार ही अपने जीवन का निर्माण करने के लिए देशवासियों को प्रेरित किया। उनकी दृढ़ धारणा थी कि वेदों में एक ही परमात्मा की पूजा-उपासना का विधान है। वेदों में जो तथ्य उल्लिखित हैं, वे सत्य-विद्याओं और विज्ञानमूलक शिक्षाओं पर ही आधारित हैं, अतः यदि वैदिक आदर्शों को हम स्वीकार कर लें तो हमारी सर्वविध उन्नति होगी।

स्वामी दयानन्द समाज में व्याप्त कुरीतियों और कदाचारों से भी पूर्णतया परिचित थे। उन्होंने सामाजिक बुराइयों का उन्मूलन करने के लिए जबरदस्त प्रयास किये।

उन्हीं के सामाजिक सुधार के उपदेशों का परिणाम है कि बाल-विवाह बंद हुए, अनमेल विवाहों पर रोक लगी, वृद्ध-विवाह घृणा की दृष्टि से देखे जाने लगे, तथा कम आयु की विधवाओं के पुनर्विवाह को सामाजिक स्वीकृति मिली।

स्वामी दयानन्द के अनुसार, आर्यों का वर्ण-विधान जन्मगत जाति पर आधारित नहीं है, अपितु गुण, कर्म और स्वभाव से ही किसी मनुष्य के ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि होने का निश्चय किया जाना उचित है। उनकी इस शिक्षा से जन्म-जाति के बंधन शिथिल हुए, विवाह में जाति की अपेक्षा वर-वधू के गुण, रूप, शील आदि को देखा जाने लगा। नारी-शिक्षण, अछूतोद्धार तथा समतामूलक समाज की स्थापना में महर्षि दयानन्द के योगदान को सभी इतिहासकारों तथा समाजशास्त्रियों ने एकमत से स्वीकार किया है।

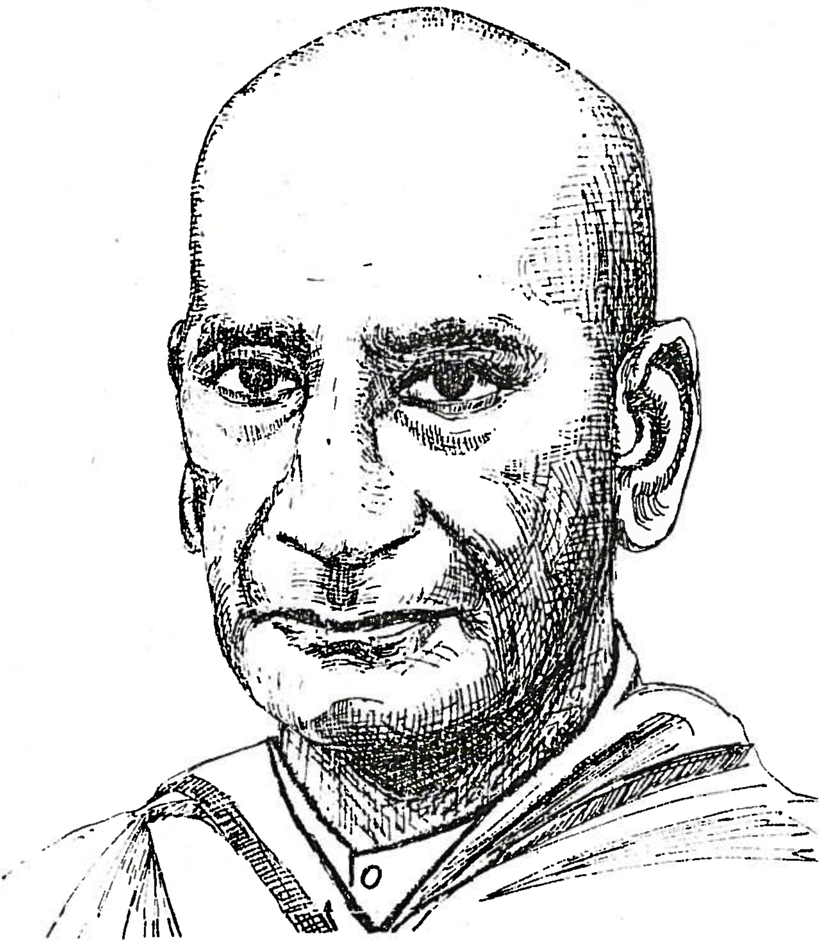
जिस प्रकार आर्ष-ग्रन्थों, आप्त-वचनों और वेदानुकूल शास्त्रों को पढ़ना-पढ़ाना स्वामी दयानन्द मनुष्य का प्रथम धर्म मानते थे, उसी प्रकार राष्ट्र की उन्नति के लिए पुरुषार्थ करना उनकी दृष्टि में परम धर्म था। यद्यपि वे संन्यासी थे जिनके लिए सांसारिक सफलताएँ थोड़ा भी महत्त्व नहीं रखतीं, तथापि उनमें स्वदेश के प्रति दिव्य प्रेम तथा भक्ति थी। वे यह अनुभव करते थे कि विदेशी शासकों के अधीन हो जाने के कारण, आर्यावर्त जैसे गौरवशाली राष्ट्र

की कैसी अधोगति हो गई है! उन्होंने देशवासियों को राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ाया और 'स्वदेशी' तथा 'स्वराज्य' का मंत्र दिया। दयानन्द ही पहले भारतीय थे, जिन्होंने स्पष्ट घोषणा करते हुए कहा—चाहे कोई कितना ही करे, किन्तु स्वदेशी राज्य सर्वोपरि उत्तम होता है; किन्तु विदेशियों का राज्य, चाहे वह मत-मतान्तर के आग्रह से रहित हो—न्याय तथा पक्षपातरहित हो—अथवा माता-पिता के तुल्य वात्सल्यभाव से परिपूर्ण भी क्यों न हो—हमें कदापि काम्य नहीं है।

स्वामी दयानन्द इस शताब्दी के पहले भारतीय थे जिन्होंने अंग्रेज़ों का शासन होने पर भी, हिन्दी को राष्ट्रभाषा के सिंहासन पर सुशोभित किया। उनका विचार स्पष्ट था कि राष्ट्रभाषा हमें राष्ट्रीय संस्कृति से जोड़ती है। स्वयं गुजराती होते हुए भी, स्वामीजी ने अपने व्याख्यान हिन्दी में दिये। उन्होंने अधिकांश ग्रन्थ भी हिन्दी में ही लिखे। देशवासियों को स्वदेशी वस्त्रों तथा स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग की प्रेरणा दी।

स्वामी दयानन्द की शिक्षाएँ लोकहित से अनुप्राणित थीं, इसीलिए देशवासियों ने उन्हें उन्मुक्त भाव से स्वीकार किया। उनके सिद्धान्तों और कार्यों की प्रशंसा स्वदेश में तो हुई ही, अन्य देशों के प्रबुद्ध लोग भी उनके प्रगतिशील विचारों से प्रभावित हुए।

राष्ट्र-जागरण में स्वामी दयानन्द की महत्त्वपूर्ण भूमिका



सूझबूझ के धनी तरुण थे। ऐसे भगवान् की भक्ति कैसे करते, जिसे राजा-रानी के आने पर देखने का अधिकार भी न हो? मुंशीराम की विरक्ति ने भी यही गुल खिलाया। यूरोप के नास्तिक दर्शनों तथा डार्विन के विकासवाद के अध्ययन ने उनके हृदय में बची-खुची आस्तिकता की भावना को भी सर्वथा निर्मूल कर दिया। उस समय वे अपने पिता के पास बरेली में रहते थे।

१८७९ के वर्ष में स्वामी दयानन्द का बरेली में आगमन हुआ। पिता को तो पुलिस-व्यवस्था के नाते स्वामी दयानन्द का प्रवचन सुनना था, परंतु वही प्रवचन का जादू सिर चढ़के बोल गया! उन्होंने पुत्र मुन्शीराम को भी आग्रह करके भेज दिया।

नास्तिक मुन्शीराम पिताजी के कहने पर बुझे मन से स्वामी जी के उपदेशों को सुनने के लिए चले जाते हैं, जहाँ उनकी सारी नास्तिकता दूर हो जाती है। स्वामी जी के प्रवचणों को सुनकर मुन्शीराम का मानो पुनर्जन्म हो जाता है।

स्वामी श्रद्धानन्द ने अपनी आत्मकथा में उन सभी दुर्गुणों, दुर्व्यसनों तथा अभद्र आदतों का स्पष्ट विवरण दिया है, जिनके कारण उनका जीवन पतन की सीमा तक पहुँच गया था। ऋषि दयानन्द के संसर्ग ने मुन्शीराम के जीवन की धारा को बदल दिया। वे उन सभी बुराइयों से मुक्ति पा गए जिनके कारण उनका जीवन नरक बन गया था।

इस प्रकार मार्च १९०२ में, गंगा के किनारे कांगड़ी ग्राम में गुरुकुल आरम्भ हुआ। महात्मा मुन्शीराम ने अपने तप, त्याग, श्रम और लगन से, इस गुरुकुल को देश के एक प्रमुख सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय शिक्षण-संस्थान के रूप में, अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति दिलाई। पुरातन भारतीय शिक्षा-प्रणाली को मूर्त्त रूप देने के लिए, जिस संस्था को एक नन्हे पौधे के रूप में आज से ९२ वर्ष पूर्व रोपा गया था, वह कालान्तर में नाना शाखा-प्रशाखाओं से युक्त होकर, एक महान् वृक्ष का रूप ले सकी। कालान्तर में, अन्य मत-सम्प्रदायों के लोगों ने भी जब अपनी शिक्षण-संस्थाएँ स्थापित कीं, तो उन्होंने भी गुरुकुल के आदर्शों को ही न्यूनाधिक रूप में स्वीकार किया।

गुरुकुल-शिक्षा की एक विशेषता, उसके छात्रों में राष्ट्रीयता एवं देशभक्ति के भावों को भरना भी था।

जब गुरुकुल कांगड़ी के ब्रह्मचारियों ने स्वदेश-हित को सर्वोपरि मानकर, लोक-कल्याण के कार्यक्रमों को अपनाया, तब, तत्कालीन ब्रिटिश शासकों के मन में, गुरुकुल को लेकर अनेक प्रकार के संदेह पनपने लगे। महात्मा मुन्शीराम नहीं चाहते थे कि शासकों की वक्र दृष्टि से गुरुकुल को व्यर्थ में ही हानि हो, अतः उन्होंने तत्कालीन वायसराय लॉर्ड चैम्सफ़ोर्ड तथा संयुक्त प्रान्त के गवर्नर सर जेम्स मैस्टन को गुरुकुल में आमंत्रित किया और उन्हें वास्तविकता से परिचित करा दिया।

शीघ्र ही, वैदिक आश्रम-व्यवस्था के अनुसार, महात्मा मुन्शीराम ने संन्यास की दीक्षा ले ली। मुन्शीराम से वह स्वामी श्रद्धानन्द बन गए। स्वामीजी का सार्वजनिक जीवन, केवल आर्यसमाज तक ही सीमित नहीं था। देश की आज़ादी के आन्दोलनों में उन्होंने सक्रिय भूमिका निभाई। महात्मा गांधी तथा उनके कार्यों से तो वे तभी परिचित हो गए थे, जब बैरिस्टर मोहनदास गांधी दक्षिण अफ्रीका को अपना कार्यक्षेत्र बनाकर, प्रवासी भारतीयों की सेवा कर रहे थे। भारत में आने के पश्चात् गांधीजी ने गुरुकुल कांगड़ी आकर महात्मा मुन्शीराम से व्यापक विचार-विमर्श किया था। जब महात्मा गांधी ने सत्याग्रह और असहयोग का कार्यक्रम देशवासियों को दिया, तब मातृभूमि की पुकार को सुनकर राष्ट्रहित के लिए अपनी आहुति देने को स्वामी श्रद्धानन्द आगे आए।

३० मार्च १९१९ को जब दिल्ली की जनता का नेतृत्व करते हुए, वे चाँदनी चौक के घण्टाघर में पहुँचे, तो गोरखा-पलटन के सिपाहियों ने उन्हें अपनी संगीनों का लक्ष्य बना लिया। यह वीर संन्यासी के तेजोद्दीप्त मुखमण्डल तथा उनकी निर्भीक वाणी का प्रभाव ही था कि वे उद्दण्ड सैनिक, उन पर गोली का प्रहार करने का साहस नहीं जुटा सके।

स्वामी श्रद्धानन्द की राष्ट्र के प्रति की गई सेवाओं का उल्लेख संक्षेप में किया जाना भी सम्भव नहीं है।

पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा

स्वामी दयानन्द के चहेते शिष्य, क्रान्तिकारी चेष्टा के आद्य प्रवर्तक, तथा संस्कृत के अप्रतिम विद्वान् पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा का जन्म, गुजरात के कच्छ प्रान्त के माण्डवी नामक नगर में, करसनजी भणशाली नामक एक साधारण स्थिति के वैश्य के घर में हुआ। वे १८५७ के वर्ष में जन्मे थे।

यह वही वर्ष था, जब भारत ने अपनी खोई हुई स्वाधीनता को प्राप्त करने के लिए, प्रथम बार सशस्त्र संग्राम करने की चेष्टा की थी। श्यामजी का प्रारम्भिक अध्ययन कच्छ की राजधानी भुज में हुआ। तत्पश्चात् वे अपने पिता के पास बम्बई चले गए और 'विल्सन हाई स्कूल' में प्रवेश लिया। उन्होंने संस्कृत का अध्ययन करने के लिए, पं० विश्वनाथ शास्त्री की पाठशाला में अपने अभ्यास को जारी रक्खा। परिश्रम तथा अध्यवसाय से संस्कृत-व्याकरण तथा साहित्य में प्रवीणता प्राप्त की।

यह एक सुखद संयोग रहा कि श्यामजी की प्रतिभा तथा अध्ययन-क्षमता को, बम्बई के एक धनाढ्य सेठ छबीलदास लल्लूभाई ने पहचाना। उन्होंने अपनी लड़की

भानुमति को १८७५ में उनसे ब्याह दिया। इसी वर्ष में आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द का बम्बई में आगमन हुआ। वहीं युवक श्यामजी भी स्वामीजी के सम्पर्क में आए। स्वामी दयानन्द ने उनकी योग्यता तथा क्षमता को पहचाना। उन्होंने श्यामजी को संस्कृत का प्रगाढ़ अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया।

बम्बई में ही श्यामजी की भेंट ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्रोफेसर-पद पर पीठासीन प्रो० मोनियर विलियम्स से हुई। उन्होंने इस होनहार युवक को इंग्लैण्ड आकर उच्चतर अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया।

इधर स्वामी दयानन्द १८७७ में ही वेदभाष्य-लेखन का महत् कार्य आरम्भ कर चुके थे। वेदभाष्य का मुद्रण बम्बई के प्रसिद्ध 'निर्णय सागर यंत्रालय' में होता था। वहीं से इसे ग्राहकों को भेजा जाता था। अपने गुरु स्वामी दयानन्द के आदेश से श्यामजी कुछ काल तक वेदभाष्य के प्रकाशन तथा वितरण का कार्य सँभालते रहे।

१८७९ में वे इंग्लैण्ड गए और मोनियर विलियम्स के सहयोगी प्रोफेसर के रूप में, ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में संस्कृत पढ़ाने लगे। उन्होंने स्वयं बैरिस्टरी का अध्ययन किया। इस परीक्षा को उत्तीर्ण कर बार-एट-लॉ हो गए।

१८८१ में उन्हें प्राच्य विद्याओं के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लेने के लिए बर्लिन जाना पड़ा। वहाँ

के प्रसिद्ध दार्शनिक हर्बर्ट स्पैन्सर तथा अपने धर्मगुरु स्वामी दयानन्द के नाम से दो छात्रवृत्तियाँ जारी कीं। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में 'हर्बर्ट स्पैन्सर स्मारक व्याख्यानमाला' चलाई।

१९०५ में भारत के वायसराय लॉर्ड कर्ज़न ने बंगाल का विभाजन कर देशवासियों को भयंकर आघात पहुँचाया। परिणामस्वरूप देश के राजनैतिक वातावरण में उग्रता आई। श्यामजी ने इंग्लैण्ड में रहते हुए 'इण्डियन होमरूल सोसाइटी' की स्थापना की, तथा भारत की स्वाधीनता को इस संस्था का लक्ष्य निर्धारित किया। उन्होंने अपने विचारों को मूर्त रूप देने के लिए 'इण्डियन सोशियालोजिस्ट' नामक पत्र निकाला। इसमें उनके क्रान्तिकारी विचार निरन्तर छपते रहे।

उन दिनों भारत की राष्ट्रीय कांग्रेस में, नरम दल तथा गरम दल के रूप में, राजनीतिज्ञों का दो खेमों में विभाजन हो चुका था। श्यामजी की सहानुभूति स्वभावतः गरम दल के प्रति थी। वे दादाभाई नौरोजी और गोपालकृष्ण गोखले की अपेक्षा लोकमान्य तिलक की विचारधारा के अधिक निकट थे। इन दोनों में, पत्राचार के द्वारा विचारों का आदान-प्रदान भी होता रहता था।

इंग्लैण्ड में रहते समय, भारत के अनेक युवा क्रान्तिकारी तथा स्वाधीनता के यज्ञ में अपनी आहुति देने के लिए सदा तत्पर रहनेवाले नौजवान, उनके सम्पर्क में आ

चुके थे। श्यामजी उनके प्रेरणा-स्रोत ही नहीं, मित्र, दार्शनिक तथा मार्गदर्शक (Friend, Philosopher and Guide) भी थे। लंदन में श्यामजी ने भारतीय विद्यार्थियों के निवास तथा उनमें स्वाधीनता के विचार भरने की दृष्टि से जिस 'इण्डिया हाउस' की स्थापना की थी, अब उसके संचालन का भार प्रसिद्ध क्रान्तिकारी और देशभक्त विनायक दामोदर सावरकर ने ले लिया था, जो उन दिनों कानून का अध्ययन करने के लिए इंग्लैण्ड आए हुए थे। अब तक सावरकर की ही भाँति लाला हरदयाल, चम्पक रमण पिल्लई, मैडम भिकाईजी कामा, सरदारसिंह राणा आदि अनेक देशभक्त, श्यामजी के अनुयायी बन चुके थे।

१९०७ में भारत की आज़ादी की पहली लड़ाई (१८५७) की स्वर्ण-जयन्ती मनाई गई। लाला लाजपतराय के निर्वासन पर इंग्लैण्ड में रहनेवाले पं० श्यामजी ने एक लेख में सरकार की इस दुष्टतापूर्ण कार्यवाही की भरपूर निंदा की। इंग्लैण्ड में रहकर भारत को स्वतंत्र कराने के लिए की जानेवाली गतिविधियों का संचालन करना श्यामजी के लिए निरन्तर कठिन होता जा रहा था, अतः फ्रांस की राजधानी पेरिस आ गए।

महायुद्ध के दौरान जब फ्रांस की सरकार को भी श्यामजी का पेरिस में रहना रास नहीं आया, तो स्विट्ज़रलैण्ड के जेनेवा नगर में रहने लगे। जब लोकमान्य तिलक को कारागार से मुक्त किया गया तो श्यामजी के

का सही मूल्यांकन तब तक सम्भव नहीं है, जब तक उनके बहु-आयामी व्यक्तित्व को अच्छी प्रकार से समझा नहीं जाता। वे परम्परा और प्रगति को साथ लेकर चलनेवाले भविष्यद्रष्टा महापुरुष थे।

स्वामी श्रद्धानन्द

कोई व्यक्ति बुरी राहों पर चलकर भी, यदि जीवन को सुधारने का प्रबल संकल्प कर ले, तो वह कल्याण-मार्ग का पथिक बन सकता है—इस उक्ति को चरितार्थ करनेवाले स्वामी श्रद्धानन्द का बचपन का नाम मुंशीराम था। उनके पिता लाला नानकचंद मूलतः पंजाब के निवासी थे, किन्तु उत्तर प्रदेश की पुलिस-सेवा में रहने के कारण उनके जीवन का अधिकांश भाग वाराणसी, बरेली, बदायूँ, मिर्ज़ापुर आदि नगरों में व्यतीत हुआ। मुंशीराम का जन्म १८५४ में अपने पिता के ग्राम तलवन (ज़िला जालंधर) में ही हुआ, किन्तु उनकी शिक्षा मुख्यतः काशी में हुई। अपने किशोर-काल में वे कट्टर पौराणिक थे। बिना विश्वनाथ शिव का दर्शन किये अन्न-जल भी ग्रहण नहीं करते थे। किन्तु मूर्तिपूजा से उन्हें अचानक विरक्ति हो गई। हुआ यह कि काशी के विश्वनाथ मन्दिर में रीवा की महारानी जब दर्शनार्थ गईं तो सामान्य भक्तों को मंदिर में घुसने ही नहीं दिया गया।

धर्म के नाम पर की जानेवाली प्रायः इसी प्रकार की घटनाएँ अंदर के पट खोल देती हैं। तब दिखावे के पाखंड आदमी को नास्तिक बना देते हैं। फिर मुन्शीराम तो

१८८१ में मुन्शीराम लाहौर आए और कानून की पढ़ाई में लग गए। इसी नगर में पहले वह ब्रह्मसमाज के सम्पर्क में आए, किन्तु उनकी धार्मिक एवं आध्यात्मिक जिज्ञासाओं का पूरा समाधान, आर्यसमाज में आकर ही हुआ। दयानन्द के महान् ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' के अध्ययन से उनकी अनेक शंकाओं का निवारण हुआ। तब वे विधिवत् आर्यसमाज के सदस्य बन गए।

वह युग आर्यसमाज के इतिहास का स्वर्णिम काल था। पं० गुरुदत्त, लाला लाजपतराय और लाला हंसराज जैसे जीवनदानी युवकों ने, वैदिक धर्म की सेवा का व्रत लेकर आर्यसमाज में प्रवेश किया था। मुन्शीराम भी इसी मित्र-मण्डली के एक महत्त्वपूर्ण सदस्य रहे।

लाला मुन्शीराम का सामाजिक जीवन सक्रिय रूप से जालंधर में आरम्भ हुआ। वहाँ वे वकालत करने लगे थे। आर्यसमाज जालंधर ने शीघ्र ही उन्हें अपना प्रधान निर्वाचित कर लिया। वे नियमित रूप से व्याख्यानों, सत्संगों तथा शास्त्रार्थों के द्वारा आर्यसमाज के प्रचार में संलग्न हो गए। मुन्शीराम जी की धर्म-प्रचार के लिए लगन अपूर्व थी। वे समय निकालकर समीपवर्ती कस्बों और नगरों की आर्यसमाजों के उत्सवों में जाते, वहाँ व्याख्यान देते, और यदि आवश्यकता पड़ती तो विधर्मियों से शास्त्रार्थ भी करते। पं० दीनदयालु जैसे प्रसिद्ध पौराणिक विद्वान् से शास्त्रार्थ के मंच पर टक्कर लेकर, उन्होंनें अपने

अध्ययन तथा वाक्चातुरी का सिक्का जमाया। यह सब उन्होंने अपने स्वयं-उपार्जित धर्मग्रन्थों के स्वाध्याय से ही किया।

किन्तु, मुन्शीराम के व्यक्तित्व को तो अभी राष्ट्रव्यापी स्वरूप लेना था। प्रारम्भ में वे स्वामी दयानन्द की स्मृति में लाहौर में स्थापित किये गए डी० ए० वी० कॉलेज की संचालन-व्यवस्था में सहभागी रहे। थोड़े समय बाद उन्हें यह अनुभव हो गया कि इस शिक्षा-प्रणाली में, संस्कृत भाषा और वैदिक एवं आर्ष शास्त्रों के अध्ययन को, अंग्रेज़ी की तुलना में गौण स्थान दिया जा रहा है। तब उनके मन में ऋषि दयानन्द द्वारा उपदिष्ट, गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली को मूर्तरूप देने का विचार आया।

मनस्वी लोग जब किसी विचार को हृदय में ले आते हैं, तो उसे क्रियान्वित करने में भी देर नहीं करते। जैसे ही गुरुकुल-स्थापना का विचार लाला मुन्शीराम के मन में आया, उन्होंने 'आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब' से उसे स्वीकार करा लिया। यह प्रतिज्ञा करके घर से निकल पड़े कि जब तक गुरुकुल के लिए एक निश्चित धनराशि वे एकत्र नहीं कर लेंगे, तब तक अपने नगर में लौटकर नहीं आएँगे। सचमुच दृढ़व्रती थे मुन्शीराम। अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने में थोड़ी भी कठिनाई नहीं हुई। वे निश्चित अवधि के पूरा होने से पहले ही, संकल्पित राशि से भी अधिक धन एकत्र कर लाए।



उन्होंने संस्कृत को भारत की एक जीवित भाषा सिद्ध करते हुए अपना प्रसिद्ध शोधपत्र पढ़ा। स्वामी दयानन्द का श्यामजी से उनके इंग्लैण्ड-प्रवास की अवधि में, संस्कृत-माध्यम से विस्तृत पत्र-व्यवहार होता रहा। इसमें स्वामीजी ने इंग्लैण्ड-निवासियों की भारत के प्रति धारणा, तथा ब्रिटिश संसद् के विषय में महत्त्वपूर्ण जानकारी भेजने के लिए कहा। इस पत्राचार से स्वामी दयानन्द की राजनैतिक दूरदर्शिता प्रकट होती है।

१८८५ में श्यामजी एक प्रतिभा-सम्पन्न न्यायविद् बैरिस्टर के रूप में भारत आए। उन्होंने बम्बई हाईकोर्ट में वकालत भी आरम्भ की, किन्तु अनेक देशी राज्य उनकी प्रतिभा तथा योग्यता का लाभ उठाना चाहते थे। फलतः श्यामजी ने रतलाम, उदयपुर तथा जूनागढ़ में कुछ वर्षों तक, इनके शासकों के मंत्रिमण्डल में रहकर कार्य किया। किन्तु स्वभाव से ही स्वतंत्रताप्रिय, स्वाभिमानी तथा अस्मिता के धनी श्यामजी को, अंग्रेजों के दास-तुल्य इन देशी राजाओं की सेवा, अनुकूल तथा रुचिकर प्रतीत नहीं हुई।

१८९७ में वे अपनी मातृभूमि से विदा लेकर इंग्लैण्ड चले गए। इंग्लैण्ड की यह यात्रा एक महत् उद्देश्य की सिद्धि के लिए की गई थी। यहाँ रहकर वे स्वतंत्र रूप से भारत की राजनीति के नित्य बदलने वाले स्वरूपों के 'सावधान दर्शक' बने। समय-समय पर भारत के अपने राजनीतिज्ञ मित्रों को वे परामर्श भेजते रहे। उन्होंने इंग्लैण्ड

हर्ष का पारावार नहीं रहा। उन्होंने 'तिलक स्मारक योजना' बनाई। तिलक-व्याख्यानमाला आरम्भ करने के लिए दस हज़ार रुपये प्रदान किए।

भारत की राजनीति में महात्मा गांधी के प्रवेश के साथ-साथ राजनैतिक आन्दोलनों के स्वरूप तथा कार्यक्रमों में भी परिवर्तन आने लगा था। गांधीजी की अहिंसा के आगे क्रान्तिकारी आन्दोलनों पर प्रश्नचिह्न लगने लगे। जनता भी सत्याग्रह एवं असहयोग जैसे अहिंसा-प्रधान कार्यक्रमों की ओर आकृष्ट हुई। श्यामजी भी वृद्धावस्था की सीमा में प्रवेश कर चुके थे। उनकी राजनैतिक प्रवृत्तियाँ कम होने लगी थीं। १९२३ में उन्होंने अपने पत्र 'इण्डियन सोशियालोजिस्ट' को बंद कर दिया।

१९२७ में जब पं० जवाहरलाल नेहरू स्विट्ज़रलैण्ड आए तो श्यामजी के दर्शनार्थ उनके निवास पर भी गए। उन्होंने उस महापुरुष को 'वृद्ध सिंह' की उपमा दी।

१९३० के आरम्भ में श्यामजी के स्वास्थ्य में असाधारण गिरावट आ गई। ३१ मई १९३० को अपनी पत्नी भानुमति की उपस्थिति में इस पुरुषसिंह ने परलोक के लिए प्रस्थान किया। उनके कोई सन्तान नहीं थी।

पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा के हृदय में स्वतंत्रता की जो चिंगारी फूटी थी, उसकी पृष्ठभूमि में, स्वामी दयानन्द की उदात्त राष्ट्रभावना तथा स्वदेश-भक्ति ही कार्यरत थी। उस महापुरुष ने स्पष्ट कहा था कि भारत को स्वतंत्र कराने में

हमें यदि बल-प्रयोग भी करना पड़े तो ऐसा करने में हमें संकोच नहीं करना चाहिए। श्यामजी ने जहाँ स्वामी दयानन्द से भारत की प्राचीन आर्य संस्कृति तथा वैदिक धर्म के प्रति निष्ठा एवं आस्था के भाव ग्रहण किये, एक सच्चे गुण-ग्राहक की भाँति जेम्स स्टुअर्ट मिल तथा हर्बर्ट स्पैन्सर जैसे अन्य विदेशी दार्शनिकों से प्रेरणा लेने में भी उन्होंने कोई संकोच नहीं किया। उन्होंने स्पैन्सर की इस उक्ति को अपने जीवन एवं कार्यों के द्वारा चरितार्थ किया था जिसमें कहा गया है कि "अत्याचार का विरोध करना न्यायोचित ही नहीं, अपितु आवश्यक भी है। अत्याचार को सह लेना, लोकहित के साथ-साथ स्वाभिमान का भी गला घोंट देता है।"

श्यामजी के जीवन का अधिकांश भाग विदेशों में ही व्यतीत होने के कारण, वे अपनी मातृसंस्था आर्यसमाज की सेवा के लिए अधिक समय नहीं निकाल सके। स्वामी दयानन्द ने उन्हें अपनी उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा का सभासद् नियुक्त किया था। वे कुछ काल के लिए अजमेर भी रहे तथा वैदिक यंत्रालय का संचालन भी किया। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के संस्थापक पं० रामनारायण मिश्र से एक बार उन्होंने कहा था, "लोगों ने स्वामी दयानन्द को पहचाना नहीं। इतना बड़ा विद्वान्, ऐसे सर्वतोमुखी क्रान्तिकारी का फिर पैदा होना कठिन है।"

एक राजनैतिक कर्मी तथा क्रान्तिकारी आन्दोलन के

जलियाँवाला बाग के हत्याकांड के बाद, जब पंजाब में राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन आयोजित किया जाना प्रायः असम्भव था, उस समय अमृतसर में सफलतापूर्वक राष्ट्रीय महासभा का अधिवेशन सम्पन्न करा लेना, और उसके स्वागताध्यक्ष के पद से प्रथम बार हिन्दी में स्वागत-भाषण प्रस्तुत करना, स्वामी श्रद्धानन्द जैसे स्वाधीनचेता महापुरुष के लिए ही सम्भव था।

यद्यपि स्वामीजी पूरी तरह राष्ट्रीयता के रंग में रँगे हुए थे, किन्तु वे यह भी अनुभव करने लगे थे कि कांग्रेस की साम्प्रदायिक तुष्टीकरण की नीति, आगे चलकर देश के व्यापक हित में बाधक सिद्ध होगी। फलतः उन्होंने काकीनाडा कांग्रेस के अध्यक्ष-पद से दिये गए मौलाना मुहम्मद अली के भाषण के, उस अंश का दृढ़तापूर्वक विरोध किया जिसमें मौलाना ने, सात करोड़ अछूतों को हिन्दू और मुसलमानों के बीच आधा-आधा बाँट लेने की बात कही थी।

अब स्वामीजी ने यह अनुभव किया कि जब तक हिन्दू-समाज को संगठित नहीं किया जाता, और हिन्दू-धर्म को त्यागकर, अन्य मतों को स्वीकार करनेवालों के लिए हिन्दू-धर्म के द्वार पुनः नहीं खोल दिये जाते, तब तक भारत का राष्ट्रीय हित भी संभव नहीं है। इसी विचार को लेकर स्वामीजी ने शुद्धि और संगठन पर ज़ोर दिया। महामना मदनमोहन मालवीय के साथ उन्होंने हिन्दू महासभा के

कार्यक्रमों में भी रुचि दिखाई। अब वे अछूतोद्धार को प्रमुखता देने लगे। कुछ वर्ष पूर्व इस्लाम ग्रहण करनेवालों को पुनः हिन्दू-समाज में प्रविष्ट कराने का अभियान चलाया।

कट्टरपन्थी मुसलमान स्वामीजी के शुद्धि और संगठन के इस कार्यक्रम से घबराहट अनुभव कर रहे थे। जो अत्यन्त मदान्ध किस्म के लोग थे, उन्होंने स्वामीजी की हत्या करने का षड्यन्त्र रचा। इसी के परिणामस्वरूप २३ दिसम्बर १९२६ को, अमर धर्मवीर स्वामी श्रद्धानन्द ने बलिदान का मार्ग अपनाया और कर्त्तव्य की वेदी पर स्वयं को न्यौछावर कर दिया।

धर्मवीर पं० लेखराम

वैदिक धर्म के प्रति अनन्य निष्ठा रखकर धर्म-प्रचार, लेखन, शास्त्रार्थ, शुद्धि तथा लोकोपकार के विविध कार्यों में जीवन समर्पित कर देनेवाले पं० लेखराम जैसे धर्मवीर, आर्य जाति के इतिहास में बहुत कम देखने में आते हैं। इनका जन्म १९१५ विक्रमी में जेहलम ज़िले के एक ग्राम सय्यदपुर में महता तारासिंह नामक ब्राह्मण के यहाँ हुआ।

बाल्यकाल में उनका अध्ययन फ़ारसी तथा उर्दू के माध्यम से हुआ। यही भाषाएँ उन दिनों पंजाब में पढ़ाई जाती थीं। सामान्य शिक्षण प्राप्त करने के पश्चात् वे सत्रह वर्ष की आयु में पुलिस में भर्ती हो गए। इस विभाग में उन्नति करते-करते वे सार्जेंट के पद तक पहुँच गए। इन्हीं दिनों इनका झुकाव धर्म एवं अध्यात्म की ओर हुआ। वे गीता का नियमित पाठ करते तथा अद्वैतवाद की दार्शनिक विचारधारा का लगातार चिन्तन करते। उन्हें पंजाब के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी विचारक मुन्शी कन्हैयालाल अलखधारी के ग्रन्थों को पढ़ने का भी अवसर मिला। फलतः उनके विचारों में परिवर्तन आया। अब वे ऋषि दयानन्द की विचारधारा से परिचित हुए। १९३७ वि० में पेशावर में

सिद्धान्त-स्थापक आचार्य की कठिन भूमिका निभाते हुए भी, श्यामजी ने संस्कृत विद्या को कभी नहीं भुलाया। 'अष्टाध्यायी' पर उनका असाधारण अधिकार था और वे धाराप्रवाह संस्कृत-भाषण करने की क्षमता रखते थे।



उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की।

अब उन्हें वैदिक धर्म के विषय में अधिक जानने की इच्छा हुई। एक मास का अवकाश लेकर वे ऋषि दयानन्द से भेंट करने के लिए अजमेर जा पहुँचे। उन्होंने स्वामीजी के चरणों में सिर नवाया और अनेक जिज्ञासाएँ प्रस्तुत कीं। जब स्वामीजी महाराज ने इस युवक के सभी प्रश्नों का समाधानकारक उत्तर दे दिया, तब पं० लेखराम संतुष्ट मन से स्वस्थान पर लौट आए। स्वामीजी ने इस समय उनसे यह भी प्रतिज्ञा कराई कि पच्चीस वर्ष से पूर्व वे हरगिज़ विवाह नहीं करेंगे। पं० लेखराम ने गुरुवर के इस आदेश को निभाया।

पं० लेखराम अब सर्वात्मना धर्मप्रचार में जुट गए। उन्होंने 'धर्मोपदेश' नामक एक उर्दू मासिक निकाला। उसमें उच्च कोटि के लेख लिखने लगे। उन दिनों पंजाब में मुसलमानों के एक नये फिर्के 'अहमदिया सम्प्रदाय' (कादियानी) का ज़ोर था। इसके संस्थापक मिर्ज़ा गुलाम अहमद स्वयं को पैग़म्बर बताने लगे थे। उनके अनुयायियों की संख्या भी बढ़ रही थी। यद्यपि पं० लेखराम पुलिस-सेवा में रहते हुए भी धर्मप्रचार के लिए पर्याप्त समय देते थे, किन्तु १९४० वि० में स्वामी दयानन्द के निधन के पश्चात् उन्होंने अनुभव किया कि अब, सरकारी नौकरी और धर्मप्रचार, दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते। अतः उन्होंने नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और धर्मोपदेश को

ही अपने जीवन का एकमेव लक्ष्य बनाया।

पं० लेखराम ने अहमदिया सम्प्रदाय और उसके स्वयंभू पैग़म्बर को आलोचना का लक्ष्य बनाया। इस सम्प्रदाय की मान्यताओं के खण्डन में उन्होंने अनेक ग्रन्थ निकाले। 'तकज़ीब बुराहीन अहमदिया' और 'नुस्ख़ा ख़ब्त अहमदिया' आदि पुस्तकें अत्यन्त लोकप्रिय हुईं। मुसलमानों ने भी कादियानियों की मिथ्या बातों तथा कपोल-कल्पनाओं को समझना आरम्भ किया।

जब आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का विधिवत् गठन हुआ तो पं० लेखराम उसके उपदेशक बन गए। सभा की ओर से विभिन्न स्थानों पर प्रचारार्थ जाने लगे। उनकी प्रवृत्तियाँ बहु-आयामी थीं।

उन्होंने 'आर्यगज़ट' का सम्पादन किया, विधर्मियों से शास्त्रार्थ किये, हिन्दू धर्म को छोड़कर ईसाइयत या इस्लाम ग्रहण करनेवालों को स्वधर्म में रहने के लिए मनाया। जहाँ-जहाँ से उन्हें प्रचारार्थ बुलाया गया, वहाँ-वहाँ जाकर उन्होंने लोगों को वैदिक धर्म के तत्त्वों को समझाया।

इनके अतिरिक्त पं० लेखराम सुयोग्य लेखक भी थे। उन्होंने भारतीय इतिहास, ईसाई तथा इस्लाम धर्म के मूल तत्त्वों तथा मान्यताओं का विशद अध्ययन किया था, सैमेटिक मतों के मान्य ग्रन्थों का गम्भीर अनुशीलन किया था। इन मतों के वे अधिकृत विद्वान् समझे जाते थे।

इसी बीच आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने एक प्रस्ताव

स्वीकार कर, ऋषि दयानन्द का विस्तृत एवं प्रामाणिक जीवन-चरित लिखाने का निश्चय किया। इस कार्य को आरम्भ करने के पूर्व, यह आवश्यक था कि ऋषि-जीवन-विषयक सभी तथ्यों एवं जानकारियों को एकत्र किया जाता। यह गुरुतर कार्य पं० लेखराम के ही सुपुर्द किया गया। सभा के आदेश को शिरोधार्य कर पं० लेखराम जी स्वामी दयानन्द के जीवन से सम्बन्धित सामग्री का संकलन करने के लिए देश के विभिन्न भागों में गए। प्रत्यक्षदर्शियों से मिलकर, आवश्यक सूचनाएँ एकत्र करने के अतिरिक्त उन्होंने हिन्दी, उर्दू, अंग्रेज़ी, गुजराती, मराठी आदि पत्रों में प्रकाशित ऋषि दयानन्द-सम्बन्धी संदर्भ-सूचनाओं तथा लेखों को भी एकत्र किया।

इस बृहत् संग्रह-कार्य को पूरा करने के पश्चात् वे लाहौर आए और जीवनी-लेखन का कार्य आरम्भ किया। यह दुर्भाग्य ही था कि असमय में बलिदान-मार्ग के पथिक बन जाने के कारण, पं० लेखराम की लौह-लेखनी से, आचार्यप्रवर का वह विशद जीवनचरित नहीं लिखा जा सका। कालान्तर में, पंजाब सभा के प्रधान लाला मुन्शीराम के आदेश से, पं० आत्माराम अमृतसरी ने, पं० लेखराम द्वारा संग्रहीत सामग्री के आधार पर ही इस बृहद् ग्रन्थ को उर्दू में लिखकर पूरा किया।

१९५० विक्रमी में जब उनकी आयु ३५ वर्ष की थी, उन्होंने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया और कुमारी लक्ष्मी को

अपनी सहधर्मिणी बनाया। उनके एक पुत्र भी हुआ जो अधिक आयु नहीं पा सका।

पं० लेखराम की यह विशेषता थी कि जहाँ और जिस समय उनकी उपस्थिति की आवश्यकता महसूस की जाती, वे अन्य सभी कामों को छोड़कर वहाँ पहुँच जाते। ऐसा करते समय उन्हें न तो निजी सुविधाओं की ही चिन्ता रहती, न वे यात्रा की कठिनाइयों का ही खयाल करते। जब उन्हें ज्ञात हुआ कि जोधपुर के प्रशासक महाराजा प्रतापसिंह, स्वामी दयानन्द के आद्य शिष्य पं० भीमसेन शर्मा को अपने यहाँ बुलाकर मांस-भक्षण के समर्थन में उनसे कोई व्यवस्था लिखवाना चाहते हैं, तब पं० लेखराम अविलम्ब जोधपुर पहुँचे। उन्होंने पं० भीमसेन को स्पष्ट कह दिया कि यदि उसने लोभ या दबाव में आकर मांस के समर्थन में कोई व्यवस्था दे दी, तो उसे आर्यसमाज की वेदी पर खड़े होने से भी वंचित कर दिया जाएगा और उसकी प्रतिष्ठा धूल में मिल जाएगी।

बूँदी में जब आर्यसमाज के प्रसिद्ध संन्यासी स्वामी नित्यानन्द और स्वामी विश्वेश्वरानन्द का पौराणिक विद्वानों से शास्त्रार्थ होने लगा, तब उनकी सहायता के लिए पण्डितजी को भेजा गया। इस अवसर पर उन्होंने भीलवाड़ा ज़िले के जहाजपुर कस्बे में, मुहम्मदी मत की आलोचना में एक तर्कपूर्ण व्याख्यान दिया। साधु केशवानन्द नामक एक पौराणिक साधु से शास्त्रार्थ करने के लिए वे हिमाचल

प्रदेश के नाहन नगर में गए और वहाँ पर आर्यसमाज की स्थापना की।

स्व-धर्म को त्यागकर, किसी अन्य मत की दीक्षा लेने के लिए तत्पर लोगों को बचाने के लिए पं० लेखराम सदा सजग रहते थे। जब उन्हें पता चला कि पटियाला रियासत के एक गाँव पायल में कोई हिन्दू अपना मत त्यागकर अन्य मत में दीक्षित हो रहा है, तो वे बिना इस बात का विचार किये कि अमुक रेलगाड़ी उस स्टेशन (चावा पायल) पर ठहरती भी है या नहीं, द्रुतगति रेल में सवार हो गए। जब गाड़ी पायल स्टेशन होकर गुज़रने लगी, तो लेखराम ने अपना बिस्तर चलती गाड़ी से बाहर फेंका और स्वयं भी कूद गए। उन्हें इस बात की थोड़ी भी चिन्ता नहीं हुई कि उनके शरीर को क्षति पहुँची है। वे तुरन्त स्व-धर्म-त्याग के लिए तत्पर उस व्यक्ति के निकट पहुँच गए और उससे पूछने लगे कि उसने क्या सोचकर धर्म-परिवर्तन का निश्चय किया है? जब उक्त व्यक्ति को पता चला कि पं० लेखराम तो अपने शरीर पर चोटों को झेलकर केवल उसे बचाने के लिए ही आए हैं, तब उसने परमत-प्रवेश का अपना संकल्प त्याग दिया।

पं० लेखराम जितने उत्तम वक्ता, उपदेशक और शास्त्रार्थकर्त्ता थे, उसी भाँति उच्च कोटि के लेखक भी थे। उनके द्वारा रचित ग्रन्थों की संख्या ३३ है, जो 'कुलियात आर्य मुसाफिर' नामक बृहद् ग्रन्थ में संग्रहीत हैं। इनके

एकाधिक अनुवाद हिन्दी में भी हुए हैं।

जब १८९७ के वर्ष में पं० लेखराम लाहौर में अपने निवास में रहकर दयानन्द-जीवन-लेखन का कार्य कर रहे थे, उनके प्राण-हरण की चेष्टा सफल हुई। जब वे दिन-भर के लेखन-कार्य से थककर अँगड़ाई लेते हुए उठे, तो एक काले गठीले तथा हिंसक प्रकृति के पुरुष ने उनकी छाती तथा पेट में छुरे से घातक प्रहार किये। इस आकस्मिक प्रहार से पं० लेखराम के शरीर से खून का धाराएँ बह निकलीं, अंतड़ियाँ भी बाहर आ गईं। उन्हें तुरन्त अस्पताल पहुँचाया गया।

जीवन के इन अन्तिम क्षणों में भी ईश्वर-विश्वासी लेखराम परम पिता का निरन्तर स्मरण करते रहे। उस समय आर्यसमाज के मूर्धन्य नेता लाला मुन्शीराम भी उनकी मृत्यु-शैया के निकट उपस्थित थे। इस समय अमर हुतात्मा श्री लेखराम ने आर्य जाति को अपना अन्तिम संदेश देते हुए कहा कि 'आर्यसमाज में तहरीर (लेखन) तथा तक़रीर (व्याख्यान) का काम कभी बंद नहीं होना चाहिए।'

मर्मस्थलों पर लगे प्रहारों ने उनके जीवन की आशा को समाप्त कर दिया। ६ मार्च १८९७ की रात्रि को इस अमर धर्मवीर का धर्म की वेदी पर बलिदान हो गया।

धर्म और सत्य के लिए स्वयं को होम देनेवाले पं० लेखराम जैसे सर्वस्व-त्यागी पुरुष ही मानवता के प्रकाश-स्तम्भ हैं!

स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती

अद्‌भुत तार्किक, शास्त्रज्ञ विद्वान्, शास्त्रार्थ-महारथी और गुरुकुलीय पद्धति की शिक्षा के प्रचारक स्वामी दर्शनानन्द जी का जन्म माघ कृष्णा दशमी संवत् १९१८ विक्रमी को हुआ। पंजाब के लुधियाना ज़िले के जगराँव नामक कस्बे में पं० रामप्रताप नामक एक कुलीन ब्राह्मण उनके पिता थे। पुरानी प्रथा के अनुसार बालक का नाम नेतराम रक्खा गया, किन्तु शीघ्र ही परिवार के लोगों के आग्रह से उनका नाम बदल दिया गया। तब वे कृपाराम कहलाए। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा फ़ारसी तथा संस्कृत में हुई। उन्होंने फ़ारसी के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'गुलिस्ताँ' तथा 'बोस्ताँ' का अध्ययन किया; 'सिद्धान्त कौमुदी' भी पढ़ी। उनका विवाह ११ वर्ष की अल्पायु में ही कर दिया गया। उन दिनों बाल-विवाह एक सामान्य बात थी।

कृपाराम के पिता कारोबारी व्यक्ति थे। वे व्यापार-व्यवसाय से बहुतेरा धन कमा चुके थे। उन्होंने अपने पुत्र को भी व्यापार में लगाने का विचार किया, किन्तु कृपाराम स्वतंत्र प्रकृति के व्यक्ति थे। उनकी व्यापार-व्यवसाय में थोड़ी भी रुचि नहीं थी। अतः उनका



व्यापार में लगना सम्भव नहीं हुआ।

उनमें वैराग्य की वृत्ति स्वभाव से ही थी, इसलिए बिना किसी को सूचना दिए वे एक दिन घर से निकल पड़े। विभिन्न स्थानों का भ्रमण करते रहे। इन दिनों उन पर नवीन वेदान्त की विचारधारा का प्रभाव था। अमृतसर में उन्होंने ऋषि दयानन्द के व्याख्यान सुने तो उन पर दयानन्दीय विचारधारा का प्रभाव पड़ने लगा।

स्वयं स्वामी दर्शनानन्द के कथनानुसार उन्होंने ऋषि दयानन्द के ३७ व्याख्यान सुने थे, और ३७ वर्ष तक ही उन्होंने आर्यसमाज की सेवा की।

पं० कृपाराम ने शास्त्रों के विस्तृत अध्ययन का विचार किया और वे काशी पहुँच गए। उन दिनों पं० हरिनाथ (संन्यास लेने के पश्चात् स्वामी मनीष्यानन्द) संस्कृत के विद्वानों में प्रमुख स्थान रखते थे। कृपाराम उनकी सेवा में गए और उनसे पढ़ने का विचार प्रस्तुत किया। पं० हरिनाथ ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। कृपाराम ने उनसे दर्शनों का विधिवत् अध्ययन किया।

वे अपने पिता का पर्याप्त द्रव्य लेकर काशी आए थे। उन्होंने अनुभव किया कि संस्कृत के शास्त्र-ग्रन्थ प्रायः सुलभ नहीं हैं। छात्रों को उन्हें प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई होती है। सस्ते मूल्य पर शास्त्र-ग्रन्थ उपलब्ध कराने की दृष्टि से उन्होंने काशी में 'तिमिरनाशक यंत्रालय' नामक एक मुद्रणालय स्थापित किया। व्याकरण, दर्शन,

वेद-विषयक अनेक ग्रन्थों को छापकर उन्होंने छात्रों को सस्ते मूल्य पर उपलब्ध कराया। इस कारण वे काशी की छात्र-मण्डली में अत्यन्त लोकप्रिय हो गए।

१८९३-९४ में आपने पंजाब के नगरों में धर्म-प्रचारार्थ भ्रमण किया। १८९९-१९०० में वे आगरा रहे। उन दिनों नियमित रूप से ट्रैक्ट लिखना, व्याख्यान देना और शंका-समाधान करना, तथा अन्य मतावलम्बियों से शास्त्रार्थ करना पं० कृपाराम का नित्य का कार्यक्रम था।

१९०० ई० में ही आगरा में पं० भीमसेन शर्मा (स्वामी दयानन्द के शिष्य जो सनातनधर्मी बन गए थे) से आर्य विद्वानों का प्रसिद्ध शास्त्रार्थ हुआ। इसमें पं० तुलसीराम स्वामी के अतिरिक्त पं० कृपाराम ने भी आर्यसमाज के पक्ष को प्रस्तुत किया।

१९०१ में पं० कृपाराम ने राजघाट (गंगातट) पर शान्त स्वामी अनुभवानन्द से संन्यास की दीक्षा ली। कृपाराम से वे स्वामी दर्शनानन्द बन गए। इस प्रकार सर्व-संग-परित्यागी परिव्राजक का बाना धारण कर, वे धर्म-प्रचार के पुण्य कार्य में प्रवृत्त हो गए।

आर्यसमाज के शास्त्रार्थ-महारथियों में स्वामी दर्शनानन्द का स्थान शीर्षस्थ है। उन्होंने पौराणिक, जैन, ईसाई तथा इस्लाम, सभी मतानुयायी विद्वानों से अनेक शास्त्रार्थ किये। यहाँ तक कि वृक्षों में जीव की विद्यमानता पर उनका आर्यसमाज के एक अन्य मूर्धन्य विद्वान् पं०

गणपति शर्मा से, ज्वालापुर महाविद्यालय के वार्षिकोत्सव के अवसर पर, ८ अप्रैल, १९१२ को शास्त्रार्थ हुआ। स्वामीजी वृक्षों में जीव की सत्ता नहीं मानते थे।

उनके कुछ प्रसिद्ध शास्त्रार्थ इस प्रकार हैं—(१) काशी में सनातनी विद्वान् महामहोपाध्याय से 'देव' शब्द के अर्थ पर। (२) आगरा में मौलवी अब्दुल हमीद से 'वेद तथा कुरान में से कौन-सी पुस्तक इल्हामी (ईश्वरीय ज्ञान) है' विषय पर। (३) १९०४ में पादरी ज्वालासिंह से। (४) बिजनौर में पं० भीमसेन शर्मा तथा पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र से 'प्रायश्चित्त' विषय पर। (५) १९६२ वि० में धामपुर ज़िला बिजनौर में सनातनी विद्वान् पं० बिहारी लाल से 'श्राद्ध' विषय पर। (६) देवरिया में आर्यसमाज के अनेक पण्डितों का सहयोग लेकर मुसलमान मौलवियों से। (७) पेशावर में सनातनी पं० जगत्प्रसाद से। (८) १९१२ के जून मास में अजमेर के जैन विद्वान् गोपालदास वरैया से 'ईश्वरसृष्टि कर्ता है या नहीं' विषय पर।

स्वामी दर्शनानन्द का पक्का विश्वास था कि पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा भी, धर्म-प्रचार में अपूर्व सहायता मिलती है। फलतः आपने अपने जीवन में स्व-पुरुषार्थ से, लगभग एक दर्जन पत्रों का सम्पादन तथा प्रकाशन किया। उनके द्वारा प्रवर्तित पत्रों का विवरण इस प्रकार है—(१) १८८९ में काशी से 'तिमिरनाशक' साप्ताहिक, (२) दानापुर से प्रकाशित 'आर्यावर्त' का सम्पादन, (३) जगराँव (पंजाब) से

'वेदप्रचारक' मासिक तथा 'भारत उद्धार' साप्ताहिक, (४) मुरादाबाद से १८९७ में 'वैदिक धर्म' साप्ताहिक, (५) १८९८ में दिल्ली से 'वैदिक धर्म' तथा १८९९ में मासिक 'वैदिक मैगज़ीन', (६) १९०० ई० में आगरा से 'तालिबे इल्म' उर्दू साप्ताहिक, (७) सिकन्दराबाद (उ०प्र०) से 'गुरुकुल समाचार', (८) बदायूँ से 'आर्यसिद्धान्त' मासिक और साप्ताहिक 'उर्दू मुबाहिसा', (९) १९०८ में लाहौर से 'ऋषि दयानन्द' नामक मासिक पत्र, (१०) १९०८ में चोहा भक्ताँ (रावलपिण्डी) से 'वैदिक फ़िलॉसफ़ी'। इनमें से अधिकांश पत्र उर्दू में निकाले गए और कुछ हिन्दी में भी। जिस युग में स्वामी दर्शनानन्द ने वैदिक धर्म का प्रचार किया, उन दिनों पंजाब तथा संयुक्त प्रान्त के पठित-वर्ग की भाषा मुख्य रूप से उर्दू ही थी। इसलिए स्वामीजी का अधिकांश लेखन भी उर्दू में ही हुआ।

शास्त्रार्थ करने तथा पत्र निकालने के साथ-साथ, स्वामीजी को गुरुकुलों की स्थापना करने का भी शौक था। वे पक्के ईश्वर-विश्वासी तथा दैव (भाग्य) में विश्वास करनेवाले थे। उनकी धारणा थी कि मुझे तो गुरुकुलों की स्थापना कर उनकी व्यवस्था को योग्य हाथों में सौंप देना है। आगे इन्हें चलाने का काम दूसरों का है। उन्होंने सिकन्दराबाद, बदायूँ, ज्वालापुर तथा रावलपिण्डी के निकट 'चोहा भक्ताँ' में गुरुकुलों की स्थापना की। इनमें गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर को विशेष ख्याति मिली; वह आर्यसमाज की एक प्रमुख शिक्षण-संस्था के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

स्वामी दर्शनानन्द लेखनी के धनी थे। उन्होंने अपने कार्यकाल में गुण और मात्रा की दृष्टि से जितना साहित्य लिखा, उतना बहुत कम आर्य विद्वान् लिख सके। वे वर्षों तक प्रतिदिन नियमपूर्वक किसी एक सैद्धान्तिक विषय पर एक ट्रैक्ट लिखते रहे। इस प्रकार लिखे गए उनके ट्रैक्टों की ठीक संख्या का पता लगाना भी कठिन है। प्रायः कहा जाता है कि उन्होंने लगभग २५० ट्रैक्ट लिखे। योग और मीमांसा को छोड़कर, शेष चार दर्शनों पर उन्होंने तर्कपूर्ण भाष्य लिखे। ईश से माण्डूक्य-पर्यन्त छः उपनिषदों की सरल एवं सुबोध व्याख्या लिखी। मनुस्मृति और गीता पर भी उनकी टीकाएँ मिलती हैं। जैन, ईसाई तथा इस्लाम मत पर उनकी समीक्षात्मक पुस्तकें पर्याप्त संख्या में हैं। स्वामी दर्शनानन्द का यह साहित्य हज़ारों पृष्ठों में समाविष्ट हुआ है।

समस्त उत्तर भारत में भ्रमण तथा अनवरत ग्रन्थ-लेखन एवं शास्त्रार्थ आदि बौद्धिक कामों में लगे रहने के कारण, स्वामीजी का स्वास्थ्य शिथिल हो गया था। वे हाथरस के अस्पताल में चिकित्सार्थ लाए गए और यहीं पर ११ मई १९१३ को उनका देहान्त हुआ। आर्यसमाज में बौद्धिक प्रतिभा के धनी स्वामी दर्शनानन्द जैसे मनस्वी, दृढ़ धारणा वाले पुरुष बहुत कम हुए हैं।

महात्मा हंसराज

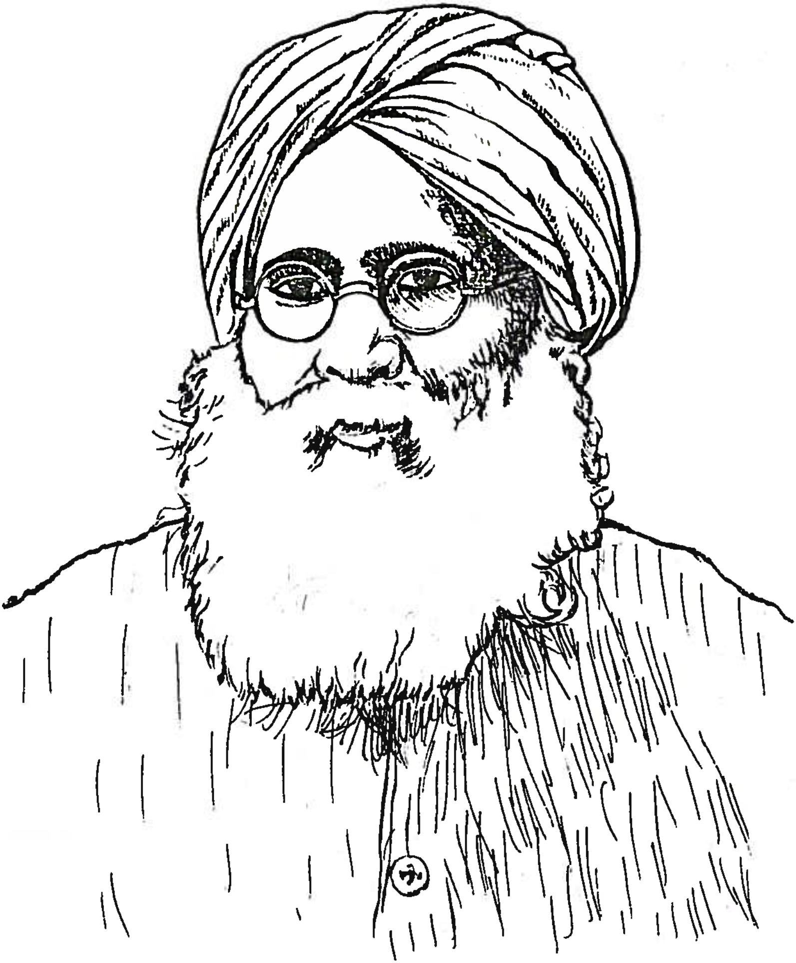
गृहस्थ होकर तथा सांसारिक जीवन व्यतीत करते हुए भी कोई व्यक्ति किस प्रकार देश, समाज तथा व्यापक जनहित के लिए स्वयं को समर्पित कर सकता है, यदि यह जानना हो तो हमें सर्वस्व-त्यागी महात्मा हंसराज के जीवन को पढ़ना चाहिए।

हंसराज का जन्म १९ अप्रैल १८६४ को पंजाब के होशियारपुर ज़िले के बजवाड़ा नामक ग्राम में एक सद्‌गृहस्थ लाला चूनीलाल के यहाँ हुआ। बारह वर्ष की आयु में उनके पिता का देहान्त हो गया। गृहस्थी का दायित्व उनके बड़े भाई लाला मुल्कराज पर आ पड़ा। उन्होंने अपनी शिक्षा अधूरी ही छोड़ दी और डाक-विभाग में मुलाज़िम बन गए। छोटे भाई हंसराज ने अपनी पढ़ाई जारी रक्खी। कॉलेज की उच्च शिक्षा के लिए वे लाहौर आ गए।

१८७७ का ही वर्ष था, जब आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द ने पंजाब प्रान्त का व्यापक भ्रमण किया और अपने व्याख्यानों से इस प्रदेश को आन्दोलित कर दिया। स्वामी दयानन्द के विचारों से हंसराज भी परिचित हो गए।

मिशन स्कूल में पढ़ते हुए, उसके ईसाई मुख्याध्यापक से वे उस समय टकरा गए जब उस व्यक्ति ने, वैदिक धर्म और आर्य सभ्यता पर निराधार आक्षेप कर डाले। नवीं श्रेणी का विद्यार्थी अपने अध्यापक की बात का प्रतिवाद करने के लिए उठ खड़ा हो, और अत्यन्त विश्वास के साथ आर्यों के एकेश्वरवादी होने की घोषणा करे—यह आश्चर्य ही तो था! किन्तु मुख्याध्यापक ने इसे भी लड़के की गुस्ताख़ी समझा। उसने इस आर्य विद्यार्थी को पाठशाला से निकाल दिया। शीघ्र ही उसने अनुभव किया कि इसमें हंसराज की तो कोई ग़लती नहीं थी। अतः हंसराज को पुनः उसी स्कूल में प्रवेश मिल गया।

१८८५ में हंसराज ने बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। संस्कृत और इतिहास में उन्हें विशेष योग्यता प्राप्त हुई। हंसराज के सहपाठियों में कई ऐसे थे, जिन्होंने आगे चलकर पंजाब तथा भारत के इतिहास में अपना नाम अमर किया। उनमें लाला लाजपतराय, पं० गुरुदत्त, प्रो० रुचिराम साहनी, राजा नरेन्द्रनाथ आदि उल्लेखनीय हैं। ये सब हंसराज के सहपाठी थे। लाला हंसराज 'आर्यसमाज लाहौर' के सभासद् बन गए। इस समाज द्वारा संचालित अंग्रेज़ी पत्र 'रीजेनेरेटर ऑफ आर्यावर्त' के अवैतनिक सहायक सम्पादक भी रहे। पं० गुरुदत्त ने पत्र के प्रमुख सम्पादक का दायित्व ग्रहण किया था। लाला हंसराज उन दिनों स्वामी दयानन्द की वेद-विषयक मान्यताओं से परिचित होने के लिए, उनके



द्वारा रचित प्रमुख ग्रन्थों का अध्ययन कर रहे थे।

३० अक्तूबर, १८८३ को अजमेर में ऋषि का निधन हो गया। यह शोक-संवाद जब लाहौर पहुँचा तो दिवंगत ऋषि को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने के लिए ८ नवम्बर १८८३ को लाहौर में एक सभा आयोजित की गई। सभा के अन्त में स्वामी दयानन्द की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए, एक ऐसे महाविद्यालय की स्थापना का निश्चय हुआ, जिसमें हिन्दी और संस्कृत के उच्चतर अध्ययन के साथ-साथ, वेदादि सत्य शास्त्रों के अभ्यास तथा पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान, एवं अंग्रेज़ी भाषा के भी शिक्षण की व्यवस्था हो। इस कॉलेज को 'दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कॉलेज'—डी० ए० वी० कॉलेज का नाम दिया गया। प्रारम्भ में तो कॉलेज के स्थान पर एक स्कूल खोलने का ही विचार था।

लाला हंसराज बी० ए० तो कर ही चुके थे। यदि वे चाहते तो उस समय पंजाब सरकार में कोई ऊँचा पद प्राप्त कर लेना उनके लिए कठिन नहीं था। किन्तु ऋषि दयानन्द के चरण-चिह्नों पर चलने की प्रबल लालसा ने, उन्हें स्वजीवन को डी० ए० वी० के लिए समर्पित करने को विवश कर दिया। अब उन्होंने बिना कोई वेतन लिये डी० ए० वी० स्कूल का मुख्याध्यापक बनने की इच्छा ज़ाहिर की। प्रबंध-समिति ने उनके इस जीवनदान के प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया।

१ जून १८८६ को जो डी० ए० वी० स्कूल एक छोटे-से

पौधे के रूप में स्थापित किया गया, कालान्तर में उसने महात्मा हंसराज जैसे सर्वस्व-त्यागी, जीवन-बलिदानी महापुरुष के नेतृत्व एवं संरक्षण में पंजाब के ही नहीं, किन्तु समस्त देश के एक गौरवशाली, राष्ट्रीय शिक्षण-संस्थान का रूप ले लिया, जिसकी सफलता एवं गौरवशाली परम्परा भारतीय शिक्षा के इतिहास में ज्योतिस्तम्भ सिद्ध हुई। हंसराज ने १९११ तक डी० ए० वी० कॉलेज के प्रिंसिपल का कार्य किया। इस बीच इस महाविद्यालय की सर्वतोमुखी उन्नति हुई। छात्रों की संख्या और परीक्षा-परिणाम की दृष्टि से यह उत्तर भारत की एक श्रेष्ठतम संस्था थी। इसके अन्तर्गत मानविकी और विज्ञान के अतिरिक्त अभियांत्रिकी, आयुर्वेद, दस्तकारी, आदि विभाग भी कार्यरत थे। उच्चकोटि के संस्कृत-शिक्षण तथा उच्चतर शोध के लिए दयानन्द कॉलेज में संस्कृत-शोध-विभाग तथा हस्तलिखित ग्रन्थों के संग्रह स्थापित किये गए। लगभग पच्चीस वर्षों तक निरन्तर कॉलेज की सेवा करने के पश्चात् अड़तालीस वर्ष की आयु, में कॉलेज के प्राचार्य के पद से हंसराज मुक्त हो गए। अब उनका कार्य-क्षेत्र और अधिक विस्तृत तथा व्यापक हो गया था।

१९वीं शताब्दी का अन्तिम दशक आर्यसमाज के इतिहास में सामान्यतः, और पंजाब के आर्यसमाज में विशेष रूप से उथल-पुथल का रहा। डी० ए० वी० कॉलेज में वेद तथा संस्कृत के शिक्षण का क्या स्तर हो, मांस-भक्षण उचित

है या अनुचित, आदि विवादास्पद विषयों पर आर्यसमाज में ऊहापोह होता रहा। लाला हंसराज भी इस विवाद में एक पक्षविशेष का नेतृत्व तो करते थे, किन्तु वे यह भी अनुभव करते थे कि विरोध और वैमनस्य की इस आँधी को एक दिन शान्त होना ही है। अतः उन्होंने आर्यसमाज के आन्तरिक वाद-विवादों में, अपनी नाममात्र भूमिका निभाते हुए भी, अपने गरिमामय व्यक्तित्व पर कोई आँच नहीं आने दी। उसी का परिणाम था कि वे न केवल आर्यसमाज के क्षेत्र में, अपितु देश-विदेश में सर्वत्र सम्मानित हुए।

हंसराज गृहस्थ होते हुए भी अपने तप, त्याग, सहिष्णुता और सांसारिक तटस्थता के कारण किसी संन्यासी से कम नहीं थे। जब उनके पुत्र बलराज को राजनैतिक षड्यंत्र का अपराधी बनाकर उन पर मुकद्दमा चलाया गया, तब महात्माजी के पुत्र-प्रेम की एक प्रकार से परीक्षा हो गई। वे अटल ईश्वर-विश्वासी तथा कर्म-सिद्धान्त के प्रति आस्थावान् थे। उन्होंने अपने पुत्र को स्पष्ट कह दिया कि 'यदि तुम स्वयं को अपराधी समझते हो, तब तो सज़ा काटकर उसका प्रायश्चित्त करो, और यदि तुम्हारा कोई अपराध नहीं है तो सरकार को तुम्हें मुक्त कर देना चाहिए।' महात्मा जी ने सुख-दुःख, हानि-लाभ, निंदा-स्तुति आदि द्वन्द्वों से ऊपर उठकर, स्थितप्रज्ञता की स्थिति प्राप्त कर ली थी।

महात्मा जी के लोकसेवा के कार्य भी याद रखने

योग्य हैं। १८९५ में बीकानेर में भयंकर अकाल पड़ा। चार वर्ष पश्चात् १८९९ में समूचा राजस्थान ही दुर्भिक्ष की विभीषिका का शिकार हो गया। १९०५ में कांगड़ा (हिमाचल) प्रलयंकारी भूकम्प से तबाह हो गया। १९०८ में अवध की पवित्र भूमि अकालग्रस्त हुई। विपत्ति की इन सभी घड़ियों में महात्मा हंसराज ने 'आर्य प्रादेशिक सभा' के माध्यम से जन-सेवा का शंखनाद किया। इसी प्रकार महामारी आदि अन्य दैवी विपत्तियों से त्रस्त मानव-जाति की सेवा, महात्माजी के जीवन का लक्ष्य बन गई थी।

१९२०-२१ में महात्मा गांधी के असहयोग-आन्दोलन के दौरान, हिन्दू-मुस्लिम एकता के संदेश की अवहेलना की गई। मलाबार (केरल) प्रान्त के मोपला मुसलमानों ने साम्प्रदायिक हिंसा का ताण्डव किया। तब महात्माजी के लिए चुप बैठना सम्भव नहीं था। उन्होंने प्रादेशिक सभा के कार्यकर्ताओं को तुरन्त सुदूरवर्ती मलाबार प्रान्त में भेजा। मोपला मुसलमानों से त्रस्त और पीड़ित हिन्दुओं की रक्षा के उपाय करवाए। 'मलाबार और आर्यसमाज' शीर्षक पुस्तक में इसका पूर्ण विवरण दिया गया है।

आर्यसमाज के सामाजिक सेवाकार्यों को महात्मा हंसराज ने सदा वरीयता दी। वे समय-समय पर पंजाब तथा देश के अन्य भागों में धर्म-प्रचारार्थ जाते, उपदेश तथा व्याख्यान देते, एवं अपनी सत्सम्मति से आर्यों का मार्गदर्शन करते।

१९२७ में जब दिल्ली में 'प्रथम सार्वदेशिक आर्य महासम्मेलन' आयोजित किया गया, तब महात्माजी को उसका अध्यक्ष बनाया गया। इस अवसर पर उन्होंने जो अध्यक्षीय भाषण दिया, उसमें आर्यसमाज के सम्मुख उपस्थित प्रश्नों और समस्याओं की व्यापक समीक्षा की गई। अछूतोद्धार, शुद्धि और संगठन जैसे हिन्दू जाति के हित के प्रश्नों पर उनकी विचारधारा अत्यन्त स्पष्ट तथा व्यावहारिक थी। उन्होंने उत्तर भारत में स्वामी श्रद्धानन्द के नेतृत्व में चलाए गए शुद्धि के आन्दोलन में पूर्ण सहयोग दिया तथा शुद्धि के कार्यकर्ताओं का मार्गदर्शन किया।

वस्तुतः महात्माजी श्वेत वस्त्रों में ही संन्यासी थे। जब १९३३ में, अजमेर में आयोजित ऋषि दयानन्द के निर्वाण की अर्द्ध-शताब्दी के अवसर पर कुछ संन्यासियों ने स्वामी सर्वदानन्द जी से निवेदन किया कि वे उनके साथ चलकर महात्माजी को चतुर्थाश्रम की दीक्षा लेने के लिए प्रेरित करें, तब वीतराग संन्यासी स्वामी सर्वदानन्द जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि 'निर्द्वन्द्व तथा सभी प्रकार की सांसारिक ऐषणाओं से मुक्त महात्माजी किसी भी कमण्डलधारी संन्यासी से कम नहीं हैं और मात्र कपड़े रँगकर संन्यास का बाना पहनने की उन्हें कोई आवश्यकता ही नहीं है।' ऐसे पुण्यश्लोक महात्मा हंसराज चौहत्तर वर्ष की आयु भोगकर १५ नवम्बर, १९३८ को परमात्मा की गोद में चले गए।

पं० गुरुदत्त विद्यार्थी

लोकसेवा के महत्त्वपूर्ण कार्य करने के लिए लम्बी आयु प्राप्त करना आवश्यक नहीं है। यदि पुरुषार्थी व्यक्ति जीवन के आरम्भ में ही अपने कार्य और पुरुषार्थ की रूपरेखा निश्चित कर ले, तो थोड़े समय में ही वह अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल हो जाता है। यह तथ्य आर्यसमाज के उच्चकोटि के विद्वान्, वेदादि शास्त्रों के अप्रतिम प्रवक्ता, तथा धर्मप्रचार के लिए पराकाष्ठा की लगन रखनेवाले पं० गुरुदत्त विद्यार्थी के जीवन से सिद्ध होता है। पं० गुरुदत्त का जीवन छब्बीस वर्ष की अल्पावधि का ही था, तथापि इस अत्यन्त संक्षिप्त काल में उन्होंने अध्ययन, लेखन, संगठन तथा धर्मप्रचार का जो कार्य कर दिखाया, वह शतायु-भोगी लोगों के लिए भी ईर्ष्या उत्पन्न करनेवाला है।

पं० गुरुदत्त का जन्म २६ अप्रैल १८६४ को मुलतान के लाला रामकृष्ण के यहाँ हुआ। अध्ययन में इनकी रुचि बाल्यकाल से ही थी, अतः मुलतान से मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण कर, उच्चतर अध्ययन के लिए वे लाहौर के गवर्नमेंट कॉलेज में प्रविष्ट हुए। यह जनवरी १८८१ की घटना है।

आर्यसमाज मुलतान के सभासद् तो वे १८८० में ही बन गए थे।

जब १८८३ में स्वामी दयानन्द के रुग्ण होने के समाचार आर्यसमाज लाहौर में आए, तो इस समाज के अधिकारियों ने लाला जीवनदास एवं पं० गुरुदत्त को स्वामीजी की सेवा-सुश्रूषा के लिए अजमेर भेजने का निश्चय किया। १९ वर्ष के इस युवक को महाप्राण दयानन्द के जीवन का अन्तिम दृश्य हिलाकर रख गया। उन्होंने देखा कि किस प्रकार एक आस्तिक एवं लोकहित के लिए समर्पित महापुरुष, अपने जीवन का उद्देश्य प्राप्त करने के पश्चात् किस निर्भीकता के साथ अपनी आत्मा को सर्वात्मा से मिलाने के लिए तत्पर है। दयानन्द के परिनिर्वाण के इस अभूतपूर्व दृश्य ने पं० गुरुदत्त के मन और मस्तिष्क पर बड़ा अनोखा प्रभाव डाला।

स्वामी दयानन्द के निधन के पश्चात् लाहौर के आर्यसमाजियों ने, अपने आचार्य की स्मृति को चिरजीवित रखने के लिए 'दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कॉलेज' के नाम से एक विद्यालय की स्थापना का निश्चय किया। इस शिक्षण-संस्था के संस्थापकों में पं० गुरुदत्त विद्यार्थी का नाम भी महत्त्वपूर्ण है। डी० ए० वी० कॉलेज के लिए धन-संग्रहार्थ जो प्रतिनिधि-मण्डल देश के अनेक नगरों में गए, उनमें पं० गुरुदत्त की भूमिका सार्थक तथा सराहनीय रही। इस कार्य के लिए वे दिल्ली, अलीगढ़, बरेली,



मुरादाबाद, लखनऊ, बनारस, इलाहाबाद, कानपुर, फर्रुखाबाद आदि अनेक नगरों में गए। वहाँ से पर्याप्त धन एकत्र किया। संयुक्त प्रान्त (अब उत्तर प्रदेश) के अतिरिक्त उन्होंने पंजाब के अनेक नगरों में भी भ्रमण किया। कॉलेज के लिए धन-संग्रह करने के अतिरिक्त उन्होंने वैदिक विषयों पर प्रवचन भी किये। उनके प्रवचनों की सर्वत्र प्रशंसा होती थी।

पं० गुरुदत्त ने 'विज्ञान' विषय लेकर एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। उन दिनों उच्च शिक्षित भारतीयों के लिए सरकारी सेवा में प्रवेश पा लेना कोई कठिन कार्य नहीं था। किन्तु पं० गुरुदत्त की ऐसे किसी काम में रुचि नहीं थी जो उनके सार्वजनिक जीवन तथा आर्यसमाज की सेवा में बाधक बने। एक बार तो उन्हें अतिरिक्त सहायक कमिश्नर के लिए होनेवाली परीक्षा में बैठने की सलाह भी दी गई, किन्तु गुरुदत्त की रुचि प्रशासनिक कार्यों की अपेक्षा, अध्ययन-अध्यापन में अधिक थी। १८८७ में जब गवर्नमेंट कॉलेज लाहौर के विज्ञान के प्रोफेसर ओमन अवकाश पर गए, तो पं० गुरुदत्त को अस्थायी रूप से उनके स्थान पर रख लिया गया। १८८९ में वे डी० ए० वी० कॉलेज में अवैतनिक रूप में गणित तथा विज्ञान पढ़ाने लगे।

पं० गुरुदत्त द्वारा रचित साहित्य

पं० गुरुदत्त का संस्कृत एवं अंग्रेज़ी भाषा पर

असाधारण अधिकार था। यद्यपि उन्हें किसी गुरु के चरणों में बैठकर संस्कृत का विधिवत् अध्ययन करने का अवसर नहीं मिला था, किन्तु मात्र स्वाध्याय के बल पर ही उन्होंने पाणिनीय व्याकरण पर असाधारण अधिकार प्राप्त कर लिया। वैलेण्टाइन-लिखित 'संस्कृत व्याकरण के सरल पाठ' नामक प्रारम्भिक व्याकरण की पुस्तक उन्होंने मुलतान में हाईस्कूल में पढ़ते समय ही समाप्त कर डाली थी। पं० गुरुदत्त का पाणिनीय शास्त्र पर इतना अधिकार हो गया था कि व्याकरण पढ़ने के लिए आयु में उनसे अधिक बड़े स्वामी अच्युतानन्द, स्वामी स्वात्मानन्द, स्वामी महानन्द तथा स्वामी निजात्मानन्द नामक चार संन्यासियों ने तो उनसे विधिवत् 'अष्टाध्यायी' सीखी थी।

अब पं० गुरुदत्त ने 'दि रीजेनेरेटर ऑफ आर्यावर्त' नामक पत्र निकालना आरम्भ किया। इसमें उनके 'वेद और वेदार्थ', 'आर्य सभ्यता और दर्शन', 'ऋषि दयानन्द के सिद्धान्त' आदि विषयों पर कुछ गम्भीर लेख छपे। १८८८ में 'वैदिक संज्ञा विज्ञान' (The Terminology of the Vedas) नामक उनका महत्त्वपूर्ण समीक्षामूलक लेख छपा, जिसे उन्होंने अपने आचार्य तथा इस (१९वीं) शताब्दी के एकमात्र वैदिक विद्वान् स्वामी दयानन्द की स्मृति में समर्पित किया। इसी क्रम में दूसरा निबंध The Terminology of the Vedas and European Scholars (वैदिक संज्ञा विज्ञान तथा यूरोपीय विद्वान्) प्रकाशित हुआ। इसमें प्रो०

मैक्समूलर तथा प्रो० मोनियर विलियम्स आदि द्वारा किये गए वेदार्थ की त्रुटियों की विवेचना है। उनके इन ग्रन्थों को वैदिक क्षेत्र में पर्याप्त ख्याति मिली। 'वैदिक संज्ञा विज्ञान' को तो ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में डिग्री कक्षा की पाठ्यपुस्तक के रूप में स्थान मिला।

पं० गुरुदत्त ने उपनिषदों की सुगम, किन्तु सारगर्भित व्याख्याएँ लिखीं। ईश, मुण्डक तथा माण्डूक्य—इन तीन उपनिषदों पर पं० गुरुदत्त के व्याख्यात्मक ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय हुए। 'वैदिक टैक्स्ट्स' (Vedic Texts) शीर्षक से उन्होंने कतिपय वेद-मंत्रों के वैज्ञानिक अर्थ भी किये। इनमें से प्रथम 'The Atmosphere' शीर्षक है जिसमें ऋग्वेद (१।२।१) के मंत्र **'वायवा याहि दर्शतेमे'** की व्याख्या है। द्वितीय 'The Composition of Water' (जल की संरचना) शीर्षक है जिसमें ऋग्वेद के मंत्र (१।२।७) **'मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्, धियं घृताचीं साधन्ता'** की व्याख्या है। इस मंत्र में प्रयुक्त मित्र और वरुण को पं० गुरुदत्त ने ओषजन (Oxygen) तथा नत्रजन (Nytrogen) का वाचक माना है तथा दोनों के मिश्रण से जल की उत्पत्ति बताई है। Vedic Text का तीसरा भाग 'गृहस्थ' शीर्षक है जो ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के पचासवें सूक्त के प्रथम तीन मंत्रों का व्याख्यान है।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वेद और वैदिक विषयों पर किये गए आक्षेपों का उत्तर देने में भी, पं० गुरुदत्त की

लेखनी ने कभी प्रमाद नहीं किया। उन्होंने मोनियर विलियम्स के ग्रन्थ 'भारतीय प्रज्ञा' (The Indian Wisdom) की आलोचना लिखी तथा पादरी टी० विलियम्स द्वारा नियोग-प्रथा पर किये गए आक्षेपों का उत्तर दिया। इसी पादरी ने जब वेदों में मूर्तिपूजा के अस्तित्व को लेकर कुछ भ्रमात्मक बातें लिखीं, तो पं० गुरुदत्त ने उसका सटीक उत्तर दिया।

फ्रैडरिक पिन्कॉट नामक एक अंग्रेज़ लेखक के वेद-विषयक विचारों की समीक्षा भी उन्होंने लिखी थी। कतिपय दार्शनिक विषयों पर उनके गम्भीर निबंध, इस तथ्य के परिचायक हैं कि गूढ़ तथा जटिल विषय की विवेचना करना उनके लिए कितना सहज था। 'The Realities of Inner Life', 'Evidences of the Human Spirit' तथा 'Pecuniomania' आदि उनके निबंध इसी कोटि में आते हैं। पं० गुरुदत्त के अंग्रेज़ी भाषा पर सहज अधिकार और उनकी विषय-विवेचना-शक्ति को देखकर बड़े-बड़े विद्वान् भी मुग्ध रह जाते थे।

बौद्धिक क्षमता तथा कर्मठता में पं० गुरुदत्त बेमिसाल थे, किन्तु उनका निजी जीवन सर्वथा अनियमित था। उन्होंने स्वास्थ्य की ओर कभी ध्यान नहीं दिया, यद्यपि अपने विद्यार्थी-काल में वे नियमित व्यायाम करते रहे थे। शरीर को कष्ट देने में वे सुख अनुभव करते, और गर्मी तथा सर्दी में, ऋतु-नियमों के प्रतिकूल आचरण करते। भोजन भी

उनका अनियमित तथा नितान्त अल्प होता था। उनके सहपाठी तथा मित्र लाला लाजपतराय ने उनकी अनियमित जीवन-शैली पर पर्याप्त विस्तार से लिखा है। निरन्तर भाषण, लेखन तथा सामाजिक कार्यों में व्यस्त रहने के कारण पं० गुरुदत्त का स्वास्थ्य खराब हो गया। वे राजयक्ष्मा के शिकार हो गए।

स्वास्थ्य-सुधार के लिए वे पर्वतीय स्थल मरी (पाकिस्तान) भी गए, किन्तु स्वास्थ्य में अपेक्षित सुधार नहीं हुआ। अब उनके जीवन का संध्याकाल आ गया था। डॉ० नारायण दास और जालंधर के हकीम शेर अली की चिकित्सा ने कुछ दिनों तक उनके जीवनदीप को स्थिर रक्खा, किन्तु पं० गुरुदत्त के शरीर की दुर्बलता जिस सीमा तक पहुँच चुकी थी, उससे उबरना कठिन था। अन्ततः १९ मार्च १८९० को इस युवा मुनि का देहान्त हो गया।

लाला लाजपतराय ने अपने इस मित्र तथा सहयोगी को श्रद्धांजलि देते हुए उन्हें असाधारण व्यक्तित्व का धनी, सच्चा, गम्भीर, संस्कृत का पारगामी विद्वान् तथा ऋषियों की परम्परा का उत्तराधिकारी बताया। पं० गुरुदत्त ने ऋषि दयानन्द के अमर ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' का अठारह बार अध्ययन किया। इसके प्रत्येक पारायण ने उन्हें नवीन जानकारियाँ प्रदान की थीं। 'आर्य पत्रिका' (लाहौर), 'ट्रिब्यून' (लाहौर), 'दि ट्रू लाइट' (एक ईसाई पत्र), 'सिविल एण्ड मिलिटरी गज़ट' (लाहौर) जैसे पत्रों ने इस युवा मनीषी

को भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की। सर सैयद अहमद खाँ द्वारा स्थापित ऐंग्लो मुहम्मडन कॉलेज (वर्तमान में अलीगढ़ मुस्लिम युनिवर्सिटी) के मुख पत्र 'अलीगढ़ इन्स्टीट्यूट गज़ट' ने भी अपने २५ मार्च १८९० के अंक में, पं० गुरुदत्त के निधन पर अपार दुःख व्यक्त किया।

लाला लाजपतराय

आर्यसमाज के जिन महापुरुषों ने स्वदेश-हित के लिए सर्वोत्कृष्ट बलिदान किये, उनमें लाला लाजपतराय का नाम चिरस्मरणीय है। ये वही बलिदानी थे जिन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया था कि राष्ट्र-भक्ति का पाठ उन्होंने स्वामी दयानन्द से सीखा है, और आर्यसमाज-रूपी माता की गोद में बैठकर ही वे स्वदेश-हित के लिए कुछ कर पाए हैं।

जन्म से वैश्य, किन्तु गुण, कर्म एवं स्वभाव से क्षत्रिय, लाजपतराय का जन्म पंजाब प्रान्त के ज़िला फ़रीदकोट के एक गाँव ढुँढिके में २८ नवम्बर १८६५ को हुआ। उनके पिता लाला राधाकृष्ण उर्दू-फ़ारसी के अच्छे जानकार तथा पेशे से अध्यापक थे। उन्होंने इस्लाम की शिक्षाओं का गहराई से अध्ययन किया था। दीने-मुहम्मदी में उनकी गहरी आस्था थी। अग्रवाल बनिया होने पर भी वे नियमित रूप से नमाज़ पढ़ते थे, रमज़ान के महीने में रोज़े भी रखते थे।

१८८० में एण्ट्रेस की परीक्षा पास कर लाजपतराय लाहौर आए। गवर्नमेंट कॉलेज से एफ० ए० तथा कानून की मुख्तारी-परीक्षाएँ साथ-साथ उत्तीर्ण कीं। १८८२ के वर्ष



में लाहौर में ही वे आर्यसमाज के सम्पर्क में आए। लाला साईंदास की प्रेरणा से वे समाज के सदस्य बने। पं० गुरुदत्त तथा लाला हंसराज जैसे युवक जहाँ कॉलेज में लाला लाजपतराय के सहपाठी थे, वहाँ ये लोग आर्यसमाज में भी उनके सहयोगी कार्यकर्ता थे। जब ३० अक्तूबर १८८३ को आर्यसमाज के संस्थापक ऋषि दयानन्द का अजमेर में निधन हुआ, तब आर्यसमाज लाहौर की ओर से ८ नवम्बर को एक शोकसभा का आयोजन किया गया। इसमें यह निश्चय हुआ कि दिवंगत महर्षि की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए 'दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कॉलेज' के नाम से एक ऐसी शिक्षण-संस्था की स्थापना की जाय, जिसमें संस्कृत एवं हिन्दी के उच्च स्तरीय शिक्षण, वेदादि शास्त्रों की गम्भीर शिक्षा के साथ-साथ पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान तथा अंग्रेज़ी भाषा के अध्ययन की व्यवस्था हो।

डी० ए० वी० कॉलेज लाहौर की स्थापना तथा संचालन में लाला लाजपतराज का भी मूल्यवान् सहयोग रहा। वे विभिन्न प्रतिनिधि-मण्डलों के सदस्य बनकर कॉलेज की स्थापना के लिए धन-संग्रह के लिए देश के विभिन्न नगरों में जाते रहे। जब यह महाविद्यालय सुचारु रूप से चल पड़ा, तब इसकी शिक्षा-नीति को प्रभावी एवं गतिशील बनाने में लालाजी की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। कालान्तर में डी० ए० वी० कॉलेज में संस्कृत तथा वेदादि शास्त्रों के पाठ्यक्रम के स्वरूप और उसकी रूपरेखा को

लेकर आर्यनेताओं में अनेक प्रकार के मतभेद उभर आए, किन्तु लालाजी ने इस विवादास्पद विषय पर पर्याप्त संतुलित दृष्टिकोण अपनाया।

१९२० में महात्मा गांधी के नेतृत्व में असहयोग और सत्याग्रह के आन्दोलन चलाए गए और सरकारी स्कूलों और कॉलेजों के बहिष्कार की बात आई। तब लाला लाजपतराय ने भी डी० ए० वी० कॉलेज के संचालकों को, देश की आज़ादी के महत्तर उद्देश्य को समक्ष रखकर कुछ काल के लिए कॉलेज को बंद कर देने का सुझाव दिया। यह दूसरी बात है कि महात्मा हंसराज ने अपनी दूरदर्शिता से ऐसा कदम उठाने से इन्कार कर दिया। उनकी दृढ़ धारणा थी कि किसी तात्कालिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण तथा स्थायी हित के कार्य की बलि नहीं दी जानी चाहिए।

लाला लाजपतराय ने १८८५ में वकालत की परीक्षा पास की। कुछ काल तक रोहतक तथा हिसार में वकील के रूप में कार्य करने के पश्चात् वे लाहौर आ गए। शीघ्र ही उन्हें अपने कार्य में आशा से अधिक सफलता मिली। कानून के पेशे में भी उनकी प्रतिष्ठापूर्ण स्थिति थी।

१८८८ में वे कांग्रेस-आंदोलन से जुड़े। प्रथम बार वे इलाहाबाद-अधिवेशन में सम्मिलित हुए। १९०६ में वे पं० गोपालकृष्ण गोखले के साथ, कांग्रेस के शिष्टमंडल के सदस्य के रूप में इंग्लैण्ड गए। वहाँ से वे अमेरिका चले

गए और देश की स्वतंत्रता के लिए पश्चिमी देशों में अनुकूल वातावरण बनाया।

लाला लाजपतराय ही प्रथम महापुरुष थे, जिन्होंने राष्ट्रीय महासभा में पूर्ण आज़ादी प्राप्त करने के विचारों का प्रसार किया, और ब्रिटिश ताज के अन्तर्गत रहकर देश को सीमित स्वतंत्रता प्राप्त करने के कांग्रेस के आदर्श का विरोध किया। उन्होंने लोकमान्य तिलक तथा बंगाली नेता विपिन चन्द्र पाल के सहयोग से, कांग्रेस में उग्रवादी गरम विचारधारा का प्रवेश कराया। उन्होंने १९०५ की बनारस-कांग्रेस में ब्रिटिश युवराज के भारत-आगमन के समय, उनका स्वागत करने का डटकर विरोध किया। सूरत-कांग्रेस में लोकमान्य तिलक और लाला लाजपतराय ने कांग्रेस की नरम नीतियों का प्रबल विरोध किया था। इसका परिणाम कांग्रेस में पड़ी फूट के रूप में प्रत्यक्ष हुआ और पं० मदनमोहन मालवीय, रासबिहारी घोष तथा फ़ीरोज़शाह मेहता आदि नरम विचार के नेताओं ने महसूस कर लिया कि अब भारत की भावी राजनीति को स्वरूप देना, लाला लाजपतराय और उनके साथियों के अधिकार में आ गया है।

पंजाब में किसान-जागृति, और उससे उत्पन्न क्रान्तिकारी राजनैतिक चेतना के सूत्रधार लालाजी ही थे। उनके और सरदार अजीतसिंह के जोशीले व्याख्यानों से भयभीत होकर, तत्कालीन शासन ने उन्हें देश से निर्वासित

कर बर्मा के माण्डले नगर में नज़रबंद कर दिया। किन्तु शासकों के इस अत्याचारपूर्ण कृत्य के प्रतिरोध में उठे प्रबल जनमत की अवहेलना करना सरकार के लिए संभव नहीं था। लालाजी तथा सरदार अजीतसिंह को शीघ्र ही रिहा करना पड़ा। स्वदेश लौटने पर एक लोकप्रिय जन-नायक के रूप में उनका स्वागत हुआ और जनता ने उन्हें सिर-आँखों पर उठा लिया।

आर्यसमाज में रहकर ही लालाजी ने जनहित के कार्यों में भाग लेना सीखा था। १८९९ में जब सम्पूर्ण उत्तर भारत अकाल की चपेट में आ गया, तब लालाजी अपने साथियों को लेकर अकाल-राहत-कार्यों में जुट गए। उन्होंने अनाथ बालकों को 'आर्य अनाथालय फ़ीरोज़पुर' में प्रवेश कराया, जबकि ईसाई मिशनरी उन्हें लेने के लिए तैयार बैठे थे। १९०५ में काँगड़ा में भयंकर भूकम्प से जन-धन की अपार क्षति हुई। उस समय भी वे भूकम्प-पीड़ितों की सहायता के लिए उन दुर्गम पर्वतीय स्थलों पर पहुँचे। इस कार्य में डी० ए० वी० कॉलेज लाहौर के छात्र लालाजी के साथ थे। उड़ीसा, मध्यप्रदेश तथा संयुक्त प्रान्त में जब १९०७ में भयंकर दुष्काल पड़ा, तब लाला लाजपतराय तुरन्त सहायता-कार्यों में जुट गए।

अब तक लालाजी देश के राजनैतिक क्षितिज पर, एक प्रकाशमान नक्षत्र की भाँति उभर चुके थे। १९२० में विदेश-यात्रा से लौटने पर, उन्होंने महात्मा गांधी द्वारा

प्रवर्तित असहयोग-आन्दोलन का समर्थन किया। इसी वर्ष वे कलकत्ता में आयोजित कांग्रेस के विशेष अधिवेशन के अध्यक्ष बनाए गए। १९२४ में उन्होंने 'स्वराज्य पार्टी' का गठन किया और केन्द्रीय असेम्बली के सदस्य चुने गए। स्वामी श्रद्धानन्द और पं० मदनमोहन मालवीय की ही भाँति लालाजी का, कांग्रेस की अल्पमत वालों के प्रति तुष्टीकरण की नीति से घोर मतभेद था। इसीलिए उन्होंने हिन्दू महासभा के कार्य में सहयोग दिया। उन दिनों हिन्दू सभा सच्चे राष्ट्रवादी नेताओं की दृष्टि में संकीर्ण या साम्प्रदायिक जमात नहीं समझी जाती थी। इसलिए उपर्युक्त नेताओं का इस संस्था से पूर्ण सहयोग रहता था। १९२५ में हिन्दू महासभा के कलकत्ता-अधिवेशन के वे सभापति बनाए गए।

१९२८ में भारत की राजनैतिक स्थिति का जायज़ा लेने के लिए इंग्लैण्ड से सायमन-कमीशन यहाँ भेजा गया। कांग्रेस ने इसके बहिष्कार का निर्णय लिया। सारे देश में सायमन-कमीशन के विरोध के स्वर गूँजने लगे। कमीशन के सदस्य जिन-जिन नगरों में गए, वहाँ-वहाँ उसके विरोध में कमीशन का बहिष्कार करने का निश्चय हुआ।

३० अक्तूबर १९२८ को कमीशन लाहौर आया। नागरिकों ने कमीशन के सदस्यों को रेलवे स्टेशन पर ही काले झण्डे दिखाने का निश्चय किया। पंजाब सरकार ने १४४ धारा लगा दी। तथापि, सैकड़ों लोग स्टेशन पर एकत्र

हो गए। 'सायमन कमीशन वापस जाओ' के नारों से आकाश गूँज उठा। पुलिस को डण्डे बरसाने का आदेश मिला। निहत्थे नागरिकों पर डण्डा-प्रहार होने लगा। अंग्रेज़ सार्जेंट सांडर्स ने लालाजी की छाती पर लाठी का प्रहार किया। भारत के इस बूढ़े शेर को मार्मिक आघात पहुँचा। उसी सायंकाल आयोजित जन-सभा में नरकेसरी लाला लाजपतराय ने गर्जनापूर्ण स्वर में कहा, "मेरे शरीर पर पड़ी विदेशी सरकार की एक-एक लाठी अंग्रेज़ी राज्य के कफ़न की कील साबित होगी!" इसी लाठी-प्रहार से पीड़ित होकर लाला लाजपतराय का १७ नवम्बर १९२८ को निधन हो गया।

लालाजी का व्यक्तित्व बहु-आयामी था। वे एक श्रेष्ठ वक्ता, प्रभावशाली लेखक, सार्वजनिक नेता और कार्यकर्ता, समर्पित समाज-सेवक, शिक्षाशास्त्री, गम्भीर चिन्तक तथा विचारक थे। उन्होंने उर्दू तथा अंग्रेज़ी में अनेक उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना की। भारत तथा विदेश के कतिपय महापुरुषों के उनके द्वारा लिखित जीवन-चरित अत्यन्त लोकप्रिय हुए। सम्राट् अशोक, शिवाजी, स्वामी दयानन्द, पं० गुरुदत्त विद्यार्थी तथा योगिराज श्रीकृष्ण के जीवन-चरित तो उन्होंने लिखे ही, इटली के देशभक्त गैरीबाल्डी तथा मैज़िनी के जीवन-चरितों ने उन्हें अभूतपूर्व ख्याति दिलाई। देशवासियों में स्वातन्त्र्य चेतना के जागृत करने में इन ग्रन्थों की भूमिका इतनी महत्त्वपूर्ण मानी गई

कि विदेशी शासन ने इन जीवनियों पर ही प्रतिबंध लगा दिया। भारतीय शिक्षा तथा अर्थशास्त्र जैसे विषयों पर भी उन्होंने प्रामाणिक ग्रन्थ लिखे। उनकी लिखी 'दि आर्यसमाज' नाम पुस्तक १९१४ में इंग्लैण्ड से प्रकाशित हुई। लालाजी ने अपनी आत्मकथा भी लिखी है।

महात्मा नारायण स्वामी

आर्यसमाज के संगठन को सुदृढ़ बनाने तथा धर्म-प्रचार के मार्ग की अनेक बाधाओं से लोहा लेने के लिए सदा तत्पर महात्मा नारायण स्वामी, आर्य जाति के महान् नेता तथा पथ-प्रदर्शक थे। उनका जन्म उत्तर प्रदेश के ज़िला जौनपुर के ग्राम सिंगारपुर में, एक मध्यवित्त कायस्थ-परिवार में हुआ। इनके पिता श्री सूर्यप्रसाद सरकारी सेवा में थे। महात्माजी का जन्म वसन्तपंचमी १९२६ वि० को हुआ। इनके बचपन का नाम नारायण प्रसाद था। संन्यास-ग्रहण के पश्चात् वे नारायण स्वामी के नाम से प्रसिद्ध हुए।

आपकी आरम्भिक शिक्षा हाथरस तथा अलीगढ़ में हुई। जिस समय वे हाथरस में पढ़ रहे थे, उस समय स्वामी दयानन्द का इस नगर में आगमन हुआ। नगरवासी उनके व्याख्यानों को सुनने के लिए उमड़ पड़े, यद्यपि विरोधी विद्वानों ने इस बात का मिथ्या प्रचार किया था कि दयानन्द नास्तिक हैं और उसका मुख देखने से भी पाप लगता है। नारायण प्रसाद ने स्टेशन पर स्वामीजी के दर्शन तो कर लिये, किन्तु अपने स्कूल के संस्कृत-पण्डित के बहकावे में

आकर वे ऋषि के उपदेश सुनने नहीं जा सके। नारायण स्वामी जी को जीवन-भर इसका पश्चात्ताप रहा कि वे श्री महाराज के उपदेशामृत-पान से वंचित रह गए।

बीस वर्ष की आयु में नारायण प्रसाद का विवाह हो गया। उधर पिताजी की मृत्यु हो गई। वे सरकारी नौकरी करके जीविकोपार्जन के लिए अपने-आपको तैयार करने लगे। उन्हें मुरादाबाद में नौकरी मिली थी, अतः यहीं पर वे आर्यसमाज के सम्पर्क में आए, यहीं स्वाध्याय के बल पर अपने शास्त्रीय ज्ञान की वृद्धि करते रहे। पं० कल्याणदत्त से उन्होंने 'अष्टाध्यायी' का अध्ययन किया और सामाजिक कार्यों में अधिकाधिक रुचि लेने लगे।

विधि का भी कैसा विचित्र विधान रहा कि मुंशीजी की धर्मपत्नी का निधन उस समय हो गया, जब वे अपनी आयु के चालीसवें वर्ष में थे। दूसरे विवाह का तो प्रश्न ही नहीं था। उनके दो पुत्र भी हुए, किन्तु वे भी अल्पायु में दिवंगत हो गए। इस प्रकार नारायण प्रसाद को गृहस्थ से अनायास ही मुक्ति मिल गई। वे स्वयं भी वैरागी हो गए। अपना अधिक समय आर्यसमाज के लिए देने लगे। उन दिनों आर्य प्रतिनिधि सभा पश्चिमोत्तर प्रदेश (वर्तमान उत्तर प्रदेश) का गठन हुआ ही था। अब उसका कार्यालय भी मुरादाबाद आ गया। मुंशीजी सर्वात्मना सभा के कामों में जुट गए। वे सभा के उर्दू मुखपत्र 'मुहर्रिक' का सम्पादन-कार्य भी करते थे। यही पत्र १८९८ में 'आर्यमित्र'



के नाम से हिन्दी में प्रकाशित होने लगा।

ईमानदारी, कर्त्तव्यनिष्ठा तथा कार्य-तत्परता के कारण, मुंशी नारायण प्रसाद अपनी सरकारी सेवा में अत्यन्त सफल माने जाते थे। उनके अंग्रेज़ अधिकारी भी उन पर पूरा विश्वास करते थे; उन्हें ऊँचा पद देने के लिए उत्सुक थे। किन्तु, इसी समय मुंशीजी ने सरकारी सेवा से त्यागपत्र देकर, धर्म की सेवा के लिए स्वयं को पूर्णतया समर्पित करने का निश्चय कर लिया। यदि थोड़े काल के लिए वे सेवा में और रह जाते तो नियमानुसार पेंशन पाने के अधिकारी होते।

जिस व्यक्ति ने अपने जीवन को ही वैदिक धर्म की सेवा के लिए समर्पित कर दिया, वह भला पेंशन के थोड़े-से आर्थिक लाभ की चिन्ता क्यों करता? इस प्रकार सांसारिक दायित्वों से पूर्णतया मुक्त हो जाने के पश्चात्, मुंशीजी के लिए लोकोपकार एवं धर्म-प्रचार के अतिरिक्त और कोई काम ही नहीं था। शीघ्र ही वे गुरुकुल वृन्दावन के आचार्य और मुख्याधिष्ठाता-पद पर चुन लिये गए। वृन्दावन में रहकर उन्होंने इस प्रमुख शिक्षण-संस्था का दायित्व ग्रहण कर लिया। तब तक गुरुकुल के भवन-निर्माण के कार्य भी अधूरे ही थे। अन्य सभी प्रकार की व्यवस्थाएँ भी करनी थीं। अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करने के पश्चात् मुंशी नारायण प्रसाद ने, वृन्दावन के इस गुरुकुल को एक उच्चकोटि की शिक्षण-संस्था का रूप दे दिया।

१९१९ में मुंशीजी पचास वर्ष के हो गए। इसी वर्ष उन्होंने गुरुकुल वृन्दावन के कार्य से अवकाश लिया तथा वानप्रस्थ ग्रहण कर लिया। स्वाध्याय, योगाभ्यास और तप के लिए उन्होंने उपयुक्त स्थान की तलाश की। नैनीताल ज़िले के रामगढ़ नामक पर्वतीय स्थल को अपनी साधना के लिए उपयुक्त पाया। अनेक वर्षों तक वे यहाँ रहे। 'नारायण आश्रम' के नाम से इस सुरम्य आश्रम को विकसित किया। वानप्रस्थ आश्रम में स्वल्प काल बिताने के पश्चात् महात्माजी ने संन्यास की दीक्षा ली। आनन्दान्त नाम न रखकर अपने मूल नाम के साथ 'स्वामी' शब्द जोड़ लिया।

१९०८ में आर्यसमाजों के सर्वोच्च संगठन 'सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा' की स्थापना हो चुकी थी। भारत की सभी प्रान्तीय सभाएँ तथा विदेशों की सभाओं ने भी अपने-आपको सार्वदेशिक सभा से सम्बद्ध कर लिया था। सभा की स्थापना के दो वर्ष पश्चात् १९१० में महात्माजी को इस सर्वोच्च संगठन के मंत्री-पद पर प्रतिष्ठित किया गया। वे निरन्तर आठ वर्षों तक सभा के मंत्री रहे। आर्यों के इस सार्वभौम संगठन को वे निरंतर सुदृढ़ बनाते रहे। १९२३ में उन्हें इस सभा के प्रधान के पद पर निर्वाचित किया गया। वे इस पद पर भी एक दशाब्द से अधिक समय तक कार्यरत रहे।

१९२५ ई० में मथुरा में ऋषि दयानन्द की

जन्म-शताब्दी का महोत्सव, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मनाने का निश्चय हुआ। प्रारम्भ में 'जन्म-शताब्दी सभा' के लिए गठित समिति का प्रधान स्वामी श्रद्धानन्द जी को बनाया गया, किन्तु देश के राजनैतिक तथा सार्वजनिक क्षेत्र में अपनी व्यस्तताओं के कारण, स्वामी श्रद्धानन्द जी के लिए शताब्दी के महत्त्वपूर्ण कार्य का संचालन करना कठिन हो गया। अतः महात्मा नारायण स्वामीजी को शताब्दी-समिति का कार्यकर्त्ता-प्रधान चुन लिया गया। जिन लोगों ने मथुरा के इस 'जन्म-शताब्दी महोत्सव' को देखा है, वे महात्माजी की प्रबंध-पटुता, कार्यक्षमता तथा संगठन-कौशल के साक्षी हैं। मथुरा की उस समय की समग्र जनसंख्या से भी अधिक आर्य पुरुषों की उपस्थिति, निवास, भोजन तथा कार्यक्रम-संचालन की सुचारु व्यवस्था करना महात्मा नारायण स्वामी जैसे ही कर्मठ तथा दक्ष पुरुष का काम था। उन्होंने रात देखी न दिन, और तीन लाख व्यक्तियों के लिए सब प्रकार की सुविधाएँ जुटा लीं। इस अवसर पर कुछ उच्च कोटि का साहित्य भी स्वामीजी की देखरेख में प्रकाशित हुआ।

१९३३ में महर्षि दयानन्द के निर्वाण को जब पचास वर्ष पूरे हुए, तब परोपकारिणी सभा तथा सार्वदेशिक सभा के सम्मिलित प्रस्ताव के अनुसार, अजमेर में 'निर्वाण अर्द्ध शताब्दी' मनाने का निश्चय हुआ। इस समारोह की सफलता का श्रेय भी महात्माजी को ही मिला।

उस समय हैदराबाद में निज़ाम उस्मान अली का शासन था। वह अपनी धार्मिक असहिष्णुता, मुसलमानों के प्रति पक्षपात, तथा इतर धर्मावलम्बियों के धार्मिक अधिकारों पर प्रतिबंध लगा देने के कारण कुख्यात था। आर्यसमाज के प्रचार-कार्य तथा उसके अनुयायियों के स्वधर्म-पालन में निरन्तर बाधाएँ उत्पन्न की जाती थीं।

आर्यसमाज के लिए जब निज़ाम-शासन का यह पक्षपातपूर्ण व्यवहार असह्य हो गया, तब आर्यों के सर्वोच्च संगठन 'सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा' ने निज़ाम-शासन के विरुद्ध सत्याग्रह का बिगुल बजा दिया। धर्मयुद्ध का शंखनाद हो गया। स्वामी स्वतंत्रानन्द जी महाराज को फ़ील्ड मार्शल बनाकर युद्ध की कमान सौंप दी गई। महात्मा नारायण स्वामी ने सत्याग्रहियों के पहले जत्थे का नेतृत्व किया। ३० जनवरी १९३९ को वे अपने सत्याग्रही बंधुओं के साथ हैदराबाद पहुँचे, सत्याग्रह किया और गिरफ्तार होकर गुलबर्गा जेल में भेज दिये गए।

अन्ततः आर्यों के त्याग, बलिदान और उनकी अपूर्व धर्मनिष्ठा ने अपना रंग दिखाया और अत्याचारी शासन को हार माननी पड़ी। महात्माजी आर्यसमाज के विजयी सेनापति के रूप में कारागार से मुक्त हुए। हैदराबाद में आर्यों को धर्मपालन की पूर्ण स्वतंत्रता मिली।

इसी प्रकार जब मुस्लिम लीग की राह पर सिंध के तत्कालीन मुख्यमंत्री सर गुलाम हुसैन हिदायतुल्ला ने

'सत्यार्थप्रकाश' के १४वें समुल्लास पर प्रतिबंध लगा दिया, तब ऋषि दयानन्द के इस अमर ग्रन्थ पर आक्रामक प्रहार करनेवाली धर्मान्ध सिंध-सरकार के खिलाफ, आर्यसमाज ने पुनः सत्याग्रह करने का संकल्प किया। जनवरी १९४७ में महात्मा नारायण स्वामी के नेतृत्व में अनेक आर्य नेता कराची पहुँचे। प्रतिबंधित समुल्लास-सहित 'सत्यार्थप्रकाश' की प्रति उन्होंने अपने पास रखने की घोषणा की। इस पर सिंध-सरकार ने कोई कार्यवाही नहीं की। आर्यसमाज को इस संघर्ष में भी विजय मिली।

महात्मा नारायण स्वामी उच्चकोटि के संगठन-कर्त्ता, नेता तथा विद्वान् तो थे ही, वे उत्कृष्ट लेखक भी थे। उनके द्वारा विभिन्न धार्मिक तथा दार्शनिक विषयों पर दर्जनों पुस्तकों की रचना हुई। 'उपनिषद् रहस्य' शीर्षक से उन्होंने हमारी अध्यात्म-विद्या के आधारभूत, ईश से लेकर बृहदारण्यक-पर्यन्त दसों उपनिषदों की सुन्दर तथा हृदयग्राही व्याख्या लिखी। योग-साधना में महात्माजी की अद्भुत गति थी। योग के रहस्यों को स्पष्ट करते हुए भी उन्होंने कुछ ग्रन्थ लिखे।

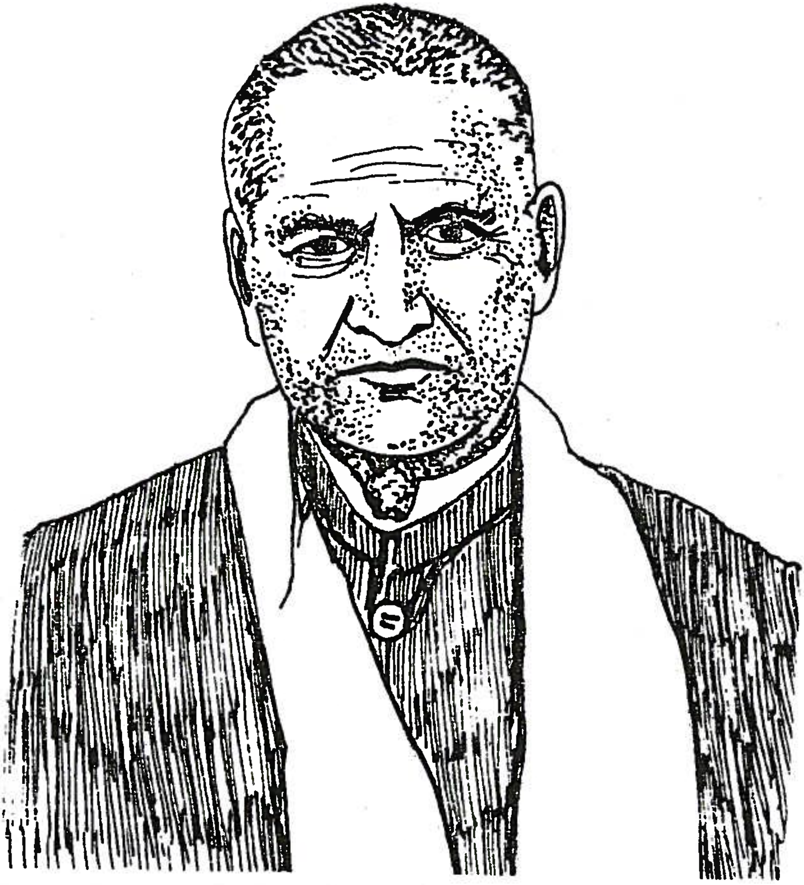
१९३१ में महात्माजी ने बरेली में आयोजित द्वितीय 'सार्वदेशिक आर्य महासम्मेलन' की अध्यक्षता की। अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने आर्यसमाज-सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर अपने प्रेरणादायी विचार प्रस्तुत किये।

१५ अक्तूबर १९४७ को महात्माजी का बरेली में निधन हुआ। संगठन-क्षमता और विद्वत्ता का उनमें अद्‌भुत मेल था।

भाई परमानन्द

जिस समय अत्याचारी मुग़ल बादशाह औरंगज़ेब ने सिखों के नवें गुरु तेग़ बहादुर को निर्ममतापूर्वक दिल्ली में कत्ल करवाया था, उस समय उनके साथ पंजाब के एक ब्राह्मण मतिदास का शरीर आरे से चिरवाकर, उसे भी गुरु महाराज के साथ धर्म की वेदी पर बलिदान कर दिया था। जब दशम गुरु गोविन्दसिंह को इन बलिदानों के समाचार मिले, तब उन्होंने मतिदास के वंशजों को भाई कहकर पुकारा, क्योंकि गुरु तेग़ बहादुर के साथ एक सहोदर भाई की तरह मतिदास ने भी अपने प्राण न्यौछावर किये थे। तब से उस ब्राह्मण मतिदास के वंशज 'भाई' के सम्बोधन से ही पुकारे जाने लगे। मुहियाल ब्राह्मणों के इसी पवित्र वंश में भाई परमानन्द का जन्म १८७६ में हुआ। उनके पिता भाई ताराचंद जेहलम ज़िले के कटियाला ग्राम के निवासी थे।

भाईजी की प्रारम्भिक शिक्षा अपने ग्राम में ही हुई। उसके बाद वे चकवाल के मिडिल स्कूल में भर्ती हुए। उनकी उच्च शिक्षा लाहौर में हुई। डी० ए० वी० कॉलेज लाहौर से उन्होंने बी० ए० किया और कलकत्ता के प्रेसिडेन्सी कॉलेज से इतिहास में एम० ए० किया।



डी० ए० वी० कॉलेज लाहौर की आजीवन सेवा करनेवाले समर्पित व्यक्तियों को, मात्र ७५ रुपये मासिक जीविका-निर्वाह हेतु मिलते थे। भाई परमानन्द ने भी कॉलेज की आजीवन सदस्यता ग्रहण कर ली। अब वे इस कॉलेज में इतिहास पढ़ाते थे, तथा धर्म-प्रचारार्थ पंजाब के नगरों का भ्रमण भी करते थे।

भाईजी के जीवन में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ तब आया, जब उन्हें पूर्वी अफ्रीका में आर्य धर्म के प्रचारार्थ भेजे जाने का प्रस्ताव आया। सम्भवतः वे आर्यसमाज के प्रथम प्रचारक थे, जो अफ्रीका महाद्वीप में बसे प्रवासी भारतीयों के अनुरोध पर वहाँ गए। १९०६ में उनका यह प्रथम विदेश-प्रवास हुआ। मोम्बासा, नैरोबी, जोहान्सबर्ग, नेटाल आदि स्थानों में धर्म-प्रचार करने के उपरान्त वे डर्बन पहुँचे। उन दिनों महात्मा गांधी बैरिस्टर के रूप में, अफ्रीका में प्रवासी भारतीयों का हितचिन्तन करते हुए, उनके नागरिक अधिकारों के लिए संघर्ष कर रहे थे। भाईजी ने महात्माजी से भेंट की। उनके सेवा-भाव तथा समर्पणशील व्यक्तित्व से वे अत्यन्त प्रभावित हुए। गांधी जी से उनका मैत्री-भाव जीवन-पर्यन्त रहा।

अफ्रीका में पर्याप्त समय व्यतीत कर, भाई परमानन्द इंग्लैण्ड चले गए। वहाँ निवास करने वाले महान् क्रान्तिकारी देशभक्त पं० श्यामजी कृष्ण वर्मा से भेंट की। लंदन में श्यामजी ने 'इण्डिया हाउस' की स्थापना कर, उसे

देशभक्त भारतीय युवकों तथा विद्यार्थियों के मिलने का एक केन्द्र-स्थल बना दिया था। भाईजी की यहाँ लाला हरदयाल तथा विनायक दामोदर सावरकर आदि युवकों से भेंट हुई, जो भारत की स्वतंत्रता की तड़प लेकर इस विदेशी धरती में स्वाधीनता की ज्योति जलाए बैठे थे। भाई परमानन्द ने अपने इंग्लैण्ड-निवास के दौरान, ब्रिटिश म्यूज़ियम में संग्रहीत महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री को देखा। उसके आधार पर उन्होंने भारत के इतिहास को सही-सही ढंग से लिखने का मन बनाया। इसी दुर्लभ सामग्री के आधार पर 'भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उद्भव' शीर्षक एक शोध-प्रबंध भी उन्होंने लिखा। लंदन विश्वविद्यालय की एम० ए० की उपाधि के लिए उसे प्रस्तुत किया। किन्तु, भारतीय राष्ट्रवाद के सही दृष्टिकोण से लिखे गए इस ग्रन्थ को साम्राज्यवादी प्राध्यापक भला क्यों स्वीकृति देते !

१९०८ में भाई परमानन्द स्वदेश लौट आए। पहले की भाँति वे डी० ए० वी० कॉलेज तथा आर्यसमाज के कार्यों में लग गए। १९०९ में वे दक्षिण भारत में वैदिक धर्म के प्रचारार्थ निकले। विभिन्न स्थानों पर जाकर सामाजिक जागृति का शंखनाद किया।

१९०७ का वर्ष पंजाब में राजनैतिक उथल-पुथल का था। लाला लाजपतराय तथा सरदार अजीतसिंह को देश-निकाला दिया गया और आर्यसमाज पर भी अंग्रेज़

सरकार की वक्र दृष्टि पड़ी। सरकार ने भाई जी के विचारों और कार्यकलाप को भी संदेह की दृष्टि से देखा। डी० ए० वी० कॉलेज के संचालकों ने उनकी सेवाएँ समाप्त कर दीं। विदेशी सरकार ने उन्हें राजद्रोह के षड्यंत्र में भाग लेने का आरोप लगाकर गिरफ्तार कर लिया। किन्तु उन पर अभियोग चलाकर दण्डित करने में सरकार को सफलता नहीं मिली।

अब भाई परमानन्द ने पुनः विदेश-यात्रा पर जाने का निश्चय किया। फ्रांस होते हुए वे न्यूयॉर्क जा पहुँचे। यहाँ से उन्होंने ब्रिटिश गुयाना के लिए प्रस्थान किया। इस यात्रा में उनकी लाला हरदयाल से पुनः भेंट हुई। दोनों देशभक्तों ने खुलकर विचारों का आदान-प्रदान किया। गुयाना से वे पुनः अमेरिका आए। वहाँ औषध-निर्माण का काम सीखते रहे। १९१४ मे वे स्वदेश लौटे। उन्होंने औषध-निर्माण करके जीविका चलाने का निश्चय किया।

उन्होंने लंदन में एकत्रित सामग्री से 'भारत का इतिहास' नामक खोजपूर्ण ग्रन्थ लिखा, किन्तु सरकार ने उसे ज़ब्त कर लिया। यह पुस्तक पाठकों तक नहीं पहुँच पाई।

२२ फरवरी १९२५ को भाईजी को 'लाहौर षड्यंत्र अभियोग' में बंदी बना लिया गया। अभियोग का निर्णय करने के लिए एक विशेष न्यायिक ट्रिब्यूनल का गठन किया गया, जिसके दो अंग्रेज़ तथा एक भारतीय सदस्य थे। अनुमान तो यह था कि भाईजी को फाँसी का दण्ड

दिया जाएगा, किन्तु ट्रिब्यूनल के भारतीय सदस्य के आग्रह पर उन्हें आजन्म कारावास की सज़ा हुई। वे कालापानी भेज दिये गए। इस भीषण दण्ड को भोगते हुए उन्हें कैसी-कैसी अमानुषिक यातनाएँ झेलनी पड़ीं, इसका रोमांचक वर्णन स्वयं भाईजी ने अपनी आत्मकथा में किया है। महात्मा गांधी और भारत-भक्त एण्ड्रूज़ के प्रयत्नों से १९२० में उन्हें कालापानी से रिहा कर दिया गया। वर्षों बाद वे स्वदेश लौटे। उस समय देश में महात्मा गांधी द्वारा चलाए जानेवाले असहयोग-आन्दोलन का ज़ोर था। सरकारी स्कूलों और कॉलेजों का बहिष्कार किया जा रहा था। स्वदेशी भावना को प्रोत्साहन देने के लिए स्थान-स्थान पर राष्ट्रीय विद्यालय स्थापित किये जा रहे थे।

लाहौर में जब महात्मा गांधी की प्रेरणा से नेशनल कॉलेज खोला गया तो भाईजी को इसका प्रिंसिपल-पद दिया गया। अमर शहीद भगतसिंह ने भी इसी कॉलेज में भाईजी से देशभक्ति का पाठ पढ़ा था। असहयोग के साथ-साथ महात्मा गांधी ने खिलाफत की तहरीक का समर्थन कर, मुसलमानों का राष्ट्रीय आन्दोलन में सहयोग लेने का प्रयास किया, किन्तु जब टर्की में कमाल पाशा ने सत्ता सँभाली और खिलाफत का सपना चूर-चूर हो गया, तो देश में साम्प्रदायिक दंगों की आग भड़क उठी।

उस समय मुस्लिम साम्प्रदायिकता के तूफान का मुकाबला करने के लिए, स्वामी श्रद्धानन्द ने शुद्धि तथा

हिन्दू-संगठन पर बल दिया। लाला लाजपतराय तथा मदनमोहन मालवीय जैसे हिन्दू निष्ठावाले नेताओं ने 'हिन्दू महासभा' को शक्तिशाली बनाने पर ज़ोर दिया।

भाई परमानन्द ने देश की राजनैतिक स्थिति, तथा कांग्रेस की अल्पसंख्यकों के तुष्टीकरण की नीति का भली-भाँति विश्लेषण किया। वे इस नतीजे पर पहुँचे कि यदि भारत में हिन्दू हितों की रक्षा करके इस विशाल समाज को संगठित नहीं किया जाता, तो देश का भविष्य अंधकारमय ही रहेगा। अतः वे अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ 'हिन्दू महासभा' के कार्यक्रमों को सफल बनाने में जुट गए।

१९३१ में वे केन्द्रीय असेम्बली के लिए चुन लिये गए। १९३४ में अजमेर में आयोजित हिन्दू महासभा के अधिवेशन के अध्यक्ष-पद के लिए भाईजी को चुना गया। इस पद से अपना भाषण देते हुए उन्होंने देश की राजनैतिक परिस्थिति का लेखा-जोखा किया। 'हिन्दू महासभा' को सुदृढ़ बनाने के लिए समस्त देश का भ्रमण किया। १९३५ में महासभा की अध्यक्षता के लिए जब बर्मा के बौद्ध भिक्षु उत्तम को चुना गया, तो यह सिद्ध हो गया कि हिन्दू महासभा केवल उच्च वर्णों के हिन्दुओं का ही प्रतिनिधित्व नहीं करती, अपितु इसमें बौद्ध, जैन, सिख आदि उन सभी सम्प्रदायों का स्वगत है जो 'हिन्दू' नाम को व्यापक अर्थ में स्वीकार करते हैं, तथा जिनकी आर्य संस्कृति में आस्था है।

१९३७ में जब वीर सावरकर को काला पानी से रिहाई मिली, तो उन्हें भी 'हिन्दू महासभा' में आने के लिए कहा गया। यद्यपि पं० नेहरू और राजगोपालाचार्य आदि नेताओं ने सावरकर को कांग्रेस में सम्मिलित होने का आग्रह किया था, किन्तु हिन्दुत्ववादी विचारधारा के पोषक और प्रचारक सावरकर के लिए 'हिन्दू महासभा' का मंच ही सर्वथा उपयुक्त था। सावरकर के 'हिन्दू महासभा' में प्रविष्ट हो जाने पर भाईजी को दुगुना बल मिल गया। वे अपनी विचारधारा का प्राणपण से प्रचार करने लगे।

इस बीच देश की राजनैतिक स्थिति में अनेक परिवर्तन आए। अन्ततः १५ अगस्त को देश को अधूरी आज़ादी मिली। इस समय तक भाईजी भी शारीरिक और मानसिक दृष्टि से बहुत क्षीण और दुर्बल हो गए थे। ८ दिसम्बर १९४७ को उनका निधन हो गया। उन्होंने अविभाजित भारत की स्वतंत्रता की आशा की थी, जो सफल नहीं हुई।

स्वामी स्वतंत्रानन्द जी

आर्य संन्यासियों में यदि किसी वीतराग तपस्वी, पर-दुःख-कातर, तुरीयाश्रमी को लौह पुरुष की संज्ञा दी जा सकती है, तो इसके वास्तविक अधिकारी स्वामी स्वतंत्रानन्द जी महाराज ही हैं।

स्वामीजी का जन्म एक सिख-परिवार में हुआ। लुधियाना ज़िले का मोही गाँव उनकी जन्मभूमि है। विक्रम संवत् १९३४ के पौष मास की पूर्णिमा को सरदार भगवानसिंह नामक एक जाट सिख के घर इस महापुरुष ने जन्म लिया। उनका बचपन का नाम केहरसिंह था। इनकी आरम्भिक शिक्षा ग्राम मोही में ही हुई। कुछ काल तक आपने विक्टर स्कूल जालंधर में भी विद्या पाई।

इन्हें बचपन से ही आध्यात्मिक ग्रन्थों के अध्ययन में रुचि उत्पन्न हो गई थी। इसके लिए उन्होंने संस्कृत का अभ्यास किया। वेदान्त-दर्शन का अध्ययन करते रहे। उन दिनों हिन्दुओं की भाँति सिख-परिवारों में भी छोटी आयु में ही विवाह कर दिये जाते थे। केहरसिंह को भी बचपन में ही गृहस्थ के बंधनों में बाँध दिया गया। किन्तु, यह एक दैवी संयोग ही था कि उनकी पत्नी का देहान्त हो गया।



इससे पहले कि उन्हें दुबारा गृहस्थी बनाया जाता, केहरसिंह वैराग्य-मार्ग के पथिक बन गए। उन्होंने गृहत्याग कर दिया।

लताला नामक ग्राम केहरसिंह के ननिहाल का गाँव था। यहाँ के उदासीन सम्प्रदाय के एक मठ में पं० विशनदास नामक आर्य विद्वान् रहते थे। इनके सम्पर्क में आने के कारण केहरसिंह भी आर्य विचारधारा में दीक्षित हो गए। अब उन्होंने अध्ययन और सत्संग को ही जीवन का लक्ष्य बना लिया। यत्र-तत्र भ्रमण करते रहते।

२३ वर्ष की आयु में केहरसिंह ने संन्यास की दीक्षा ले ली, और प्राणपुरी नाम धारण किया। साधु प्राणपुरी में अब संस्कृत पढ़ने की अदम्य प्रेरणा जागृत हुई। कुछ काल तक अमृतसर के स्वामी स्वरूपदास से उन्होंने वेदान्त तथा न्यायदर्शन पढ़े। उन दिनों वे मात्र कौपीन ही शरीर पर धारण करते थे। पात्र के रूप में एक बाल्टी रखते थे। लोग उनको 'बाल्टीवाले साधु' के नाम से पुकारने लगे।

उनकी स्वतंत्र प्रकृति के कारण कुछ लोग उन्हें स्वामी स्वतंत्रानन्द कहने लगे। बाद में यही नाम उनकी पहचान बन गया।

संवत् १९६३ वि० में स्वामी स्वतंत्रानन्द कुम्भ के अवसर पर प्रयाग पहुँचे। वहाँ से दिल्ली आए। पंजाब, मध्य भारत, गुजरात, राजस्थान आदि प्रान्तों में धर्मप्रचार करते रहे। इस प्रकार उत्तर भारत के अधिकांश प्रदेशों में

भ्रमण करने के पश्चात् आपने लुधियाना को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। वहाँ 'वेद प्रचारिणी सभा' का काम करने लगे। १९६७ वि० में उनकी भेंट आर्यसमाज के प्रसिद्ध नेता महाशय कृष्ण से हुई। महाशयजी ने उन्हें लाहौर आने का आग्रह किया। इससे पूर्व स्वामीजी १९०१ में अपनी प्रथम विदेश-यात्रा के लिए निकल पड़े थे। कलकत्ता-बंदरगाह से जलयान में बैठकर आपने पिनांग, मलाया (वर्तमान मलयेशिया), मलक्का, सिंगापुर, इण्डोनेशिया तथा फिलीपीन्स की यात्रा की। १९०४ में स्वदेश लौटे।

मॉरिशस में आर्यसमाज का प्रचार-कार्य इस शताब्दी के आरम्भ में ही शुरू हो गया था। वहाँ आर्यसमाज के प्रचार-हेतु गए डॉ० चिरंजीव भारद्वाज के स्वदेश लौट आने पर स्वामी स्वतंत्रानन्द को इस द्वीप में प्रचारार्थ भेजा गया। यह यात्रा १९१४ में हुई। १९२० में स्वामीजी बर्मा गए। एक वर्ष तक वहाँ रहे। १९२१ में पूर्वी अफ्रीका के लिए उन्होंने प्रस्थान किया। कुछ काल वहाँ रहकर स्वदेश लौट आए। इस प्रकार वर्तमान शताब्दी के प्रथम दो दशकों में स्वामी स्वतंत्रानन्द जी ने उन अधिकांश-देशों का भ्रमण किया, जहाँ भारतमूल के लोग पर्याप्त संख्या में रहते थे। इन प्रवासी भारतीयों ने अपने उद्यम और पुरुषार्थ से इन देशों में आर्यसमाजें स्थापित कर ली थीं।

इन यात्राओं से अवकाश पाकर स्वामीजी पुनः लाहौर

आए। वहाँ आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब द्वारा संचालित 'दयानन्द उपदेशक विद्यालय' का आचार्य-पद सँभाला। धर्म-प्रचारक तैयार करने की दृष्टि से 'दयानन्द उपदेशक विद्यालय' अपने समय का एकमात्र महत्त्वपूर्ण प्रशिक्षण-केन्द्र था। उन दिनों स्वामी स्वतंत्रानन्द और उनके पश्चात् स्वामी वेदानन्द तीर्थ के आचार्यत्व में, इस विद्यालय ने जितने उच्चकोटि के व्याख्याता, उपदेशक तथा शास्त्रार्थकर्ता तैयार किये, उतने आर्यसमाज के सम्पूर्ण जीवनकाल में भी अन्यत्र तैयार नहीं हो सके। इस विद्यालय में वेदादि शास्त्रों के अतिरिक्त अन्य मत-मतान्तरों के मान्य ग्रन्थों, अरबी-फ़ारसी आदि भाषाओं तथा आर्यधर्म से भिन्न मत-सम्प्रदायों के सिद्धान्तों एवं मान्यताओं का विशद अध्ययन कराया जाता था। उपदेशक-श्रेणी में उत्तीर्ण स्नातकों को 'सिद्धान्तभूषण' की उपाधि दी जाती थी। स्वामी स्वतंत्रानन्द ने १९३८ तक इस उपदेशक विद्यालय के आचार्य-पद को अलंकृत किया। वे सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के उप-प्रधान भी रहे।

१९३९ में जब निज़ाम हैदराबाद की दमनकारी नीतियों तथा धार्मिक अधिकारों पर प्रतिबंधों के विरोध में आर्यसमाज ने सत्याग्रह छेड़ा, तो यही उचित समझा गया कि सत्याग्रह-संग्राम की समस्त रणनीति बनाने तथा उसको संचालित करने के सब अधिकार स्वामी स्वतंत्रानन्द जी को दे दिये जाएँ। फलतः आपको हैदराबाद-सत्याग्रह का प्रमुख

सेनापति बनाया गया। शोलापुर में 'सत्याग्रह संचालन शिविर' का सारा भार आपको ही सौंपा गया। स्वामीजी ने जिस योग्यता तथा चतुराई से सत्याग्रह का संचालन किया, उसका ही परिणाम था कि धार्मिक स्वतंत्रता के इस महायज्ञ में अपनी आहुति देने के लिए, देश के कोने-कोने से हज़ारों सत्याग्रही एकत्र हुए। अन्ततः निज़ाम की सरकार को झुकना पड़ा। आर्यसमाज के मान और प्रतिष्ठा के लिए स्वामीजी बड़े-से-बड़ा बलिदान देने में भी संकोच नहीं करते थे।

'लोहारू' एक मुस्लिम रियासत थी। वहाँ के क्रूर शासक ने आर्यसमाज के प्रचार-कार्य में बाधा डाली तो स्वामीजी ने अपने पुनीत शरीर पर कुल्हाड़ी के वार सहन किये, किन्तु धर्म की ध्वजा को झुकने नहीं दिया।

भारत के स्वाधीनता-संग्राम में भी, स्वामी स्वतंत्रानन्द का योगदान कम नहीं था। वे १९१८-१९ से ही कांग्रेस की गतिविधियों में भाग लेने लगे थे। 'भारत छोड़ो आन्दोलन' के दौरान अंग्रेज़ सरकार ने आपको गिरफ्तार कर लाहौर के किले में नज़रबंद कर दिया। आप पर सेनाओं में विद्रोह फैलाने का आरोप लगाया गया। अनेक प्रकार की अमानुषिक यातनाएँ दीं। देश के स्वतंत्र हो जाने के बाद, आर्यसमाज ने जब गोरक्षा-आन्दोलन चलाया, तब उसके संचालन का भार भी वीतराग स्वामी स्वतंत्रानन्द को ही सौंपा गया।

स्वामीजी का व्यक्तित्व बहुमुखी था। वे [illegible] की

मूर्ति तो थे ही, साथ ही उनके समय का अधिकांश वेदादि शास्त्रों के गम्भीर अध्ययन में ही व्यतीत होता था। उन्होंने सिख-मत का विस्तृत अध्ययन किया था। गुरुओं के जीवन एवं उनकी शिक्षाओं पर वे अधिकारपूर्वक लिखते तथा व्याख्यान देते थे। उनके द्वारा रचित ग्रन्थों में 'आर्यसमाज तथा सिख गुरु', 'सिख और यज्ञोपवीत', 'सिख और गौ' आदि ऐसी रचनाएँ हैं जो उनके सिखमत-विषयक तलस्पर्शी ज्ञान की साक्षी देती हैं। 'वेद की इयत्ता अर्थात् मंत्र-संख्या' नामक ग्रन्थ से यह सिद्ध होता है कि वेदाध्ययन के प्रति वे कितने गम्भीर थे। आर्यसमाज़ के ज्ञात एवं अज्ञात सेवकों, बलिदानियों तथा कार्यकर्ताओं के जीवन-वृत्तान्त को संग्रह करना उनका प्रिय कार्य था। 'आर्यसमाज के महाधन' शीर्षक अपने ग्रन्थ में उन्होंने वैदिक धर्म के प्रचारार्थ स्वयं का बलिदान करनेवाले अमर हुतात्माओं के जीवन-वृत्तों को लेखबद्ध किया। उन्होंने पंजाबी में भी ऋषि दयानन्द का जीवन-चरित लिखा जो अपूर्ण और अप्रकाशित है।

३ अप्रैल १९५५ को इस महान् संन्यासी ने बम्बई में अपनी इह-लीला का संवरण किया।

स्वामी आत्मानन्द सरस्वती

आर्यसमाज ने ऐसे अनेक महापुरुषों को जन्म दिया है, जो अपने बौद्धिक वैभव के कारण मनीषी जगत् में अपनी छाप छोड़ गए, साथ ही जिन्होंने अपनी प्रचण्ड कर्मठता और पुरुषार्थ के बल पर देश और समाज के लिए बड़े-से-बड़ा बलिदान देने में भी संकोच नहीं किया। स्वामी आत्मानन्द सरस्वती इन्हीं महापुरुषों की श्रेणी में आते हैं। वे वेदों तथा दर्शनों के प्रगाढ़ विद्वान् थे, साथ ही कठिन परिस्थितियों में आर्य जनता का मार्गदर्शन करने में भी सर्वदा आगे रहे।

स्वामीजी का जन्म १८७९ ई० में मेरठ ज़िले के अंछाड़ नामक ग्राम में एक समृद्ध ब्राह्मण-परिवार में हुआ। आपके पिता का नाम पं० दीनदयालु था। उन दिनों बालकों के नामकरण की प्रक्रिया में भी, किसी प्रकार की संस्कारशीलता नहीं होती थी। बालकों के अर्थहीन तथा अटपटे नाम रख दिये जाते थे। इस बालक को भी उसके घरवाले मुख्तार के नाम से पुकारने लगे। बालक की आरम्भिक शिक्षा उसके ग्राम में ही हुई। बाद में उसे समीप के गाँव बमनौली में पं० परमानन्द के पास संस्कृत पढ़ने भेज दिया गया। पं० परमानन्द को बालक का मुख्तार नाम

कतई पसन्द नहीं आया। उन्होंने उसे मुक्तिराम नाम दे दिया। संन्यास ग्रहण करने तक वे इसी नाम से पुकारे जाते रहे।

मेरठ में दो वर्ष तक अध्ययन करने के पश्चात्, पं० मुक्तिराम काशी चले गए। वहाँ उन्होंने व्याकरण, साहित्य और वेदान्त की शिक्षा पाई। इन शास्त्रों में पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त कर लिया। पं० मुक्तिराम का आर्य-समाज से परिचय स्वामी दर्शनानन्द-लिखित एक ट्रैक्ट से हुआ, जो जैन मत की समीक्षा में लिखा गया था। वे इस ट्रैक्ट में प्रयुक्त तर्क-शैली से अत्यन्त प्रभावित हुए। इसके बाद आर्यसमाज के विद्वानों द्वारा रचित साहित्य को पढ़ने की इच्छा बलवती हुई। तब उन्हें पं० शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ लिखित 'ओंकार निर्णय' और 'त्रिदेव निर्णय' नामक ग्रन्थ पढ़ने को मिले। ऋषि दयानन्दकृत 'सत्यार्थप्रकाश' एवं 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' भी उन्होंने पढ़ी। इन ग्रन्थों को पढ़ने के बाद वे दृढ़ आर्यसमाजी बन गए।

उन दिनों रावलपिण्डी के निकट 'चोहा भक्ताँ' नामक गाँव के समीप एक गुरुकुल चलता था। काशी में पं० मुक्तिराम के परिचित पं० विष्णुदत्त उन्हें इस गुरुकुल में ले आए। १९१६ में वे 'गुरुकुल चोहा भक्ताँ' में आए और देश-विभाजन-पर्यन्त वहाँ रहे। इस प्रकार एकनिष्ठ होकर, शिक्षादान के पावन कर्त्तव्य में निरन्तर इकत्तीस वर्ष व्यतीत



करने के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। पं० मुक्तिराम ने निरन्तर योगाभ्यास किया तथा आजीवन ब्रह्मचारी रहे।

१९४३ में उन्होंने संन्यास की दीक्षा ली। तब से वे स्वामी आत्मानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए। १९४७ में भारत के स्वतंत्र हो जाने और रावलपिण्डी के पाकिस्तान में रह जाने के कारण जब वहाँ गुरुकुल का संचालन कठिन हो गया, तो स्वामीजी भारत आए और हरियाणा के यमुनानगर में स्थायी रूप से रहने लगे। लाहौर-स्थित 'दयानन्द उपदेशक विद्यालय' तो बंद हो गया था, और आर्यसमाज में कोई ऐसी संस्था नहीं थी जहाँ उपदेशकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था होती। अतः यमुनानगर में उन्होंने 'वैदिक साधन आश्रम' की स्थापना की और 'उपदेशक विद्यालय' भी चलाने लगे। इस उपदेशक विद्यालय में देश के विभिन्न भागों से अनेक युवक आते रहे। शास्त्रों के अभ्यास और व्याख्यान-कला आदि में योग्यता प्राप्त कर वे कर्मठ उपदेशक बने।

१९५५ में आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने उन्हें प्रधान चुना। वास्तव में इससे सभा के गौरव में ही वृद्धि हुई, क्योंकि एक शास्त्र-निष्णात, योगसाधना से युक्त, वीतराग संन्यासी का आर्यों के संगठन का मुखिया होना सर्वथा उचित ही था। स्वामी आत्मानन्द को अपना प्रधान पाकर पंजाब के आर्यों में हर्ष की लहर दौड़ गई।

१९५५-५६ में ही पंजाब राज्य में हिन्दी के महत्त्व को

राज्य-स्तर पर, तथा शिक्षण-संस्थाओं में, कम कर दिया गया। इस प्रकार हिन्दी-भाषी पंजाबियों को अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। मुख्य रूप से आर्यसमाज की शिक्षण-संस्थाओं में तो पठन-पाठन का माध्यम भी हिन्दी ही था। अब छात्रों पर बलात् पंजाबी थोपी जाने लगी।

इस विषम परिस्थिति में आर्यसमाज ने अपना कर्त्तव्य स्थिर करने में देर नहीं की। सार्वदेशिक सभा ने 'भाषा स्वातन्त्र्य समिति' का गठन किया। शासकों को यह समझाने का प्रयास किया कि पंजाब में हिन्दी के लिए किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होनी चाहिए। माता-पिता अपने पुत्रों को किस भाषा की शिक्षा दिलाना चाहते हैं, इसकी भी छूट उनको मिलनी ही चाहिए।

जब आर्यसमाज की न्यायोचित माँगों पर केन्द्रीय तथा राज्य सरकार ने कोई अनुकूल रवैया नहीं दिखाया, तब लाचार होकर सार्वदेशिक सभा ने 'हिन्दी रक्षा सत्याग्रह' का आह्वान किया। भाषा की स्वतंत्रता के लिए बड़े-से-बड़ा बलिदान करने का संकल्प लिया। स्वामी आत्मानन्द जी महाराज को इस आन्दोलन का संचालक चुना गया। १९५६-५७ के वर्ष में हिन्दी-सत्याग्रह ज़ोर-शोर से चलाया गया। स्वामी आत्मानन्द ने अनेक नेताओं से भेंट करके उन्हें आर्यसमाज के पक्ष से अवगत कराया। सरकार द्वारा आश्वासन प्राप्त करने के पश्चात् ही हिन्दी-सत्याग्रह

समाप्त हुआ, किन्तु इस दौरान किये गए घोर परिश्रम से स्वामीजी रुग्ण हो गए। १८ दिसम्बर को उनका निधन हो गया। स्वामी आत्मानन्द द्वारा लिखित ग्रन्थों में 'संध्या के तीन अंग', 'मनोविज्ञान तथा शिवसंकल्प' और 'वैदिक गीता' विशेष महत्त्व के हैं।

महाशय कृष्ण

पंजाब में आर्यसमाज को एक सुसंगठित आन्दोलन का रूप देनेवाले, प्रखर चिन्तक, विचारक तथा लेखनी के धनी महाशय कृष्ण का जन्म १८८१ में पश्चिमी पंजाब के वज़ीराबाद नामक नगर में हुआ। इनके पिता का नाम ताराचंद वोहरा था। इनका बचपन का नाम राधाकृष्ण था, किन्तु आर्यसमाज में प्रविष्ट होने के पश्चात् आपने अपना संक्षिप्त नाम 'कृष्ण' रख लिया और वे इसी नाम से प्रसिद्ध हुए।

प्रारम्भिक शिक्षा वज़ीराबाद में समाप्त कर, कृष्ण जी कॉलेज की शिक्षा के लिए लाहौर के इस्लामिया कॉलेज में प्रविष्ट हुए। आर्यसमाज से उनका परिचय पं० लेखराम की शहादत के वर्ष १८९७ में हुआ। लाहौर में पढ़ते समय आप आर्यसमाज वच्छोवाली के सदस्य बन गए। इस्लामिया कॉलेज के तत्कालीन प्रिंसिपल मौलवी हामिद अली थे, जो सिख धर्म को त्यागकर नये-नये मुसलमान बने थे। उनमें अपने नये मज़हब के लिए कुछ ज़्यादा ही जोश था। इसी उत्साह में एक दिन जब उन्होंने पढ़ाते समय पुनर्जन्म के सिद्धान्त का उपहास किया, तो कृष्ण जी इसे

सहन नहीं कर सके। उन्होंने तुरन्त खड़े होकर पुनर्जन्म पर प्रिंसिपल साहब के कटाक्ष का दो टूक उत्तर दिया। यह थी स्वधर्म में उनकी प्रगाढ़ निष्ठा! १९०० में कृष्ण ने एफ०ए० की परीक्षा पास की। १९०२ में उन्होंने 'फोरमैन क्रिश्चियन कॉलेज' से बी० ए० किया और जीवन-क्षेत्र में उतर पड़े।

महाशय कृष्ण को लिखने का शौक शुरू से ही था। उनके अंग्रेज़ी लेख 'अमृतबाजार पत्रिका' जैसे विख्यात पत्र में छपने लगे थे। वे शीघ्र ही आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के अंग्रेज़ी मुखपत्र 'दि आर्य पत्रिका' के सम्पादक बना दिये गए। इस पत्र में प्रकाशित होनेवाले उनके सम्पादकीय लेखों की इतनी धाक थी कि लंदन के एक पत्र ने उन्हें 'आग्नेय सम्पादक' की उपाधि दे डाली।

१९०६ में महाशयजी ने अपना स्वतंत्र पत्र 'प्रकाश' के नाम से जारी किया। बहुत थोड़े साधनों से महाशयजी ने इस पत्र को चलाया। उसे आर्यसमाज की विचारधारा का प्रमुख प्रवक्ता बना दिया। १९०७ में महाशयजी को 'आर्यसमाज वच्छोवाली' का मंत्री चुना गया। १९११ में वे आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के उपमंत्री बने। १९१४ में मंत्री-पद के लिए चुन लिये गए। १९१४ से लेकर १९५५ तक वे इस सभा के मंत्री अथवा प्रधान के पदों पर रहे। इतने दीर्घकाल तक पंजाब जैसे प्रान्त की सभा के उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर रहकर संचालन करना महाशयजी की कर्मठता, संगठन-क्षमता तथा लगन का सूचक है।



१९१९ के वर्ष में ब्रिटिश शासन ने रॉलेट एक्ट बनाकर भारतवासियों की आज़ादी की तड़प को कुचलने का प्रयास किया। तब सारे देश में सरकार के दमन-चक्र के विरोध में आवाज़ें उठने लगीं। ऐसी संक्रमण की घड़ी में महाशयजी ने ३० मार्च १९१९ को उर्दू साप्ताहिक 'प्रताप' का प्रकाशन आरम्भ किया। आपके उग्र विचारों के कारण 'प्रताप' ने जनता में तो लोकप्रियता अर्जित की, किन्तु सरकार की आँखों में वह किरकिरी के तुल्य खटकने लगा। १२ अप्रैल को ही मार्शल-लॉ के अन्तर्गत 'प्रताप' के विरुद्ध कार्यवाही हुई। महाशयजी को जेल भेज दिया गया। इस प्रकार अपनी पत्रकारिता को, देश की स्वाधीनता के लिए लड़े जानेवाले संग्राम में एक शस्त्र की तरह प्रयोग कर, महाशयजी ने भारत माता के सच्चे सपूत होने का सबूत दिया। फरवरी १९२० में 'प्रताप' को दुबारा निकाला गया। तब से लेकर वह देश-विभाजन-पर्यन्त देशहित और आर्यसमाज की सेवा में लगा रहा।

महाशयजी की सेवाएँ जहाँ स्वदेश के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा मूल्यवान् सिद्ध हुईं, वहाँ आर्यसमाज के लिए तो उनके जीवन का एक-एक पल समर्पित था। उनके भाषण आर्यसमाज के उत्सवों में नये प्राण फूँक देते थे। श्रोता उन्हें रुचिपूर्वक सुनते थे। उनकी लेखनी से निकले शब्द, लाखों लोगों के हृदयों का स्पन्दन तथा उनके प्राणों की धड़कन बन जाते।

गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना यों तो महात्मा मुन्शीराम ने की थी, किन्तु आरम्भ से ही उसका स्वत्व आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के पास था। सभा का प्रधान ही गुरुकुल का कुलाधिपति, तथा उसकी व्यवस्था-समिति का अध्यक्ष होता था। अतः आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान-पद पर रहते हुए, महाशयजी को गुरुकुल कांगड़ी की व्यवस्था तथा कार्य को देखने का अवसर मिलता था। वे प्रायः गुरुकुल के वार्षिकोत्सवों में जाते। वहाँ अपने प्रभावशाली भाषणों से आर्यजनता का मार्गदर्शन करते।

१९३८ में महात्मा हंसराज के निधन के कारण, पंजाब की आर्यसमाज में नेतृत्व का संकट उपस्थित हो गया। इसे महाशयजी ने अपने कुशल नेतृत्व के द्वारा पूरा किया।

१९३९ में हैदराबाद में आर्यसमाज के समक्ष परीक्षा की एक और घड़ी आई। निज़ाम उस्मान अली के राज्य में हिन्दुओं की धार्मिक स्वतंत्रता पर कुठाराघात हुआ। आर्यों को अपने धर्म-प्रचार से पूरे तौर पर वंचित कर दिया गया। तब इस अत्याचार के प्रतिकार में, आर्यसमाज ने सत्याग्रह करने की घोषणा कर दी। सत्याग्रहियों के जत्थे हैदराबाद की सीमा में प्रविष्ट होने लगे। उन्हें गिरफ्तार करके राज्य के विभिन्न कारागारों में भेजा जाने लगा। इस सत्याग्रह के चौथे सर्वाधिकारी के रूप में महाशय कृष्ण, लाहौर से चलकर दक्षिण की ओर आए। ११८२ सत्याग्रहियों के साथ उन्होंने औरंगाबाद में सत्याग्रह किया। सत्याग्रहियों

की इतनी बड़ी संख्या को देखते हुए 'महाशय कृष्ण स्पेशल ट्रेन' के नाम से एक विशेष रेलगाड़ी चलाई गई थी। सत्याग्रह में आर्यसमाज को सफलता मिली, और महाशय जी को ससम्मान कारागार से मुक्त कर दिया गया। १९४२ में 'भारत छोड़ो आन्दोलन' में अन्य राष्ट्रभक्त नेताओं की भाँति, महाशयजी ने भी भाग लिया। वे १३ अगस्त को गिरफ्तार हुए और पर्याप्त काल तक शाहपुर जेल में रहे।

महाशयजी को आर्यसमाज के उस धर्म-संग्राम में भी उतरना पड़ा, जो सिंध की मुस्लिम लीग सरकार द्वारा 'सत्यार्थप्रकाश' के १४वें समुल्लास को ज़ब्त कर लिये जाने पर आरम्भ करना पड़ा। १४ जनवरी, १९४७ को महात्मा नारायण स्वामी तथा आर्यसमाज के अन्य नेताओं के साथ, महाशयजी ने कराची में सिंध-सरकार के 'सत्यार्थ-प्रकाश' पर लगाए गए प्रतिबंध के खिलाफ आवाज़ उठाई। उन्होंने घोषणा की कि वे अपने पास इस ग्रन्थ की वह प्रति रक्खे हुए हैं जिसमें १४वाँ समुल्लास भी है। लीग की सरकार ने इस घोषणा के बाद भी, आर्य नेताओं के खिलाफ कोई दण्डात्मक कार्यवाही नहीं की।

देश-विभाजन के पश्चात् जब आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का कार्यालय जालंधर आ गया, सभा को पुनः महाशयजी की सेवाओं की आवश्यकता पड़ी। उन्हें उनकी अनुपस्थिति में ही प्रधान चुन लिया गया। अब महाशयजी दिल्ली में रहने लगे। 'वीर अर्जुन' में उनके प्रभावशाली

लेख छपते रहे।

जब १९५६-५७ में पंजाब में हिन्दी के समर्थन में आर्यसमाज ने प्रभावशाली आन्दोलन चलाया, महाशयजी ने 'हिन्दी रक्षा आन्दोलन' के समर्थन में, अनेक लेख लिखकर प्रबल जनमत बनाया। महाशयजी के इन लेखों से पंजाब में, हिन्दी की दयनीय स्थिति की ओर देशवासियों का ध्यान गया। फलस्वरूप सत्याग्रह के लिए प्रचुर धन तथा जन-बल एकत्र किया गया।

स्वामी दयानन्द की उत्तराधिकारिणी 'परोपकारिणी सभा' ने १९४२ में महाशयजी को अपना सदस्य चुना था। वे नियमित रूप से सभा के अधिवेशनों में उपस्थित होते थे। उनसे अन्य सदस्यों को निरन्तर मार्गदर्शन प्राप्त होता था। १९५३ में वे 'परोपकारिणी सभा' के प्रधान निर्वाचित हुए और १९६३ तक इस पद पर रहे। इसी वर्ष २४ फरवरी को उनका निधन हुआ। महाशयजी परोपकारिणी सभा की प्रवृत्तियों में पूरी दिलचस्पी लेते थे। उनके अध्यक्ष-काल में अजमेर में प्रतिवर्ष ऋषि-मेला आयोजित किया जाने लगा। सभा के मुखपत्र 'परोपकारी' का प्रकाशन भी उन्हीं के काल में हुआ। अपनी लेखनी के द्वारा महाशयजी ने आर्यसमाज और ऋषि दयानन्द की विचारधारा को जिस कुशलता से व्यक्त किया, उसी का परिणाम था कि पठित व्यक्तियों को आर्यसमाज का दृष्टिकोण समझने में कभी कठिनाई नहीं हुई।

आचार्य रामदेव

आर्यसमाज के बौद्धिक विद्वानों में शिखामणि-तुल्य, प्रखर वक्ता और शिक्षा-शास्त्री आचार्य रामदेव का जन्म १८८१ ई० में होशियारपुर ज़िले के बजवाड़ा ग्राम में, लाला चंदूलाल के यहाँ हुआ। उनके पिता अध्यापक थे, अतः पुत्र की शिक्षा-व्यवस्था वे सुचारु रूप से कर सके।

१५ वर्ष की आयु में मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् रामदेव जी ने डी० ए० वी० कॉलेज लाहौर में प्रवेश लिया। उन दिनों आर्यसमाज का संगठन कॉलेज-दल तथा गुरुकुल-दल में विभक्त हो चुका था। रामदेव जी की सहानुभूति गुरुकुल-दल की ओर थी, इसलिये वे कॉलेज की पढ़ाई को बीच में ही छोड़कर लाला मुन्शीराम के सहयोगी बन गए। उन्हें आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के अंग्रेज़ी मुखपत्र 'आर्य पत्रिका' का उप-सम्पादक बना दिया गया। कुछ समय बाद वे जालंधर छावनी के विक्टर हाई स्कूल के मुख्याध्यापक बन गए। १९०४ में उन्होंने बी० ए० पास किया। १९०५ में बी० टी० करने के पश्चात् जींद राज्य में उन्हें स्कूलों के निरीक्षक का पद मिल गया। किन्तु रामदेव जी तो आर्यसमाज की सेवा के लिए



ही उत्सुक थे, इसलिए लाला मुन्शीराम का आदेश पाकर वे गुरुकुल कांगड़ी में चले गए।

महात्मा मुन्शीराम ने गुरुकुल कांगड़ी के संचालन में, आचार्य रामदेव को अपना प्रमुख सहायक बना लिया। अब तक यह गुरुकुल संस्कृत की एक सामान्य पाठशाला की भाँति चलाया जा रहा था। जब रामदेव जी को इस संस्था में मुख्याध्यापक का पद दिया गया, तो उन्होंने गुरुकुल की व्यवस्था, पठन-पाठन-प्रणाली तथा पाठ्यक्रम में अनेक सुधार किये। विभिन्न विषयों की पढ़ाई के लिए समय-विभाग-चक्र बनाया तथा कालांश-विभाजन किया गया। संस्कृत तथा वैदिक शास्त्रों के अध्ययन के साथ-साथ अर्थशास्त्र, राजनीति विज्ञान, गणित, रसायन, अंग्रेज़ी आदि विषय भी शिक्षण-क्रम में सम्मिलित किये गए और इन विषयों के अधिकारी शिक्षकों को नियुक्त किया गया। इन परिवर्तनों से गुरुकुल ने एक विश्वविद्यालय का रूप ले लिया। जब महात्मा मुन्शीराम १९१७ में संन्यास की दीक्षा लेकर स्वामी श्रद्धानन्द के रूप में देश के सार्वजनिक क्षितिज पर प्रकाशमान नक्षत्र की भाँति उभरे, तब आचार्य रामदेव पर गुरुकुल-संचालन का पूर्ण दायित्व आ गया। आचार्यजी ने इसे पूर्ण तत्परता से निभाया।

१९२४ में अतिवृष्टि तथा प्रचण्ड झंझावात के कारण गंगा-पार बने गुरुकुल के पुराने भवन नष्ट हो गए। तब

आचार्यजी ने अपनी कर्मण्यता तथा साहस का परिचय देते हुए नवीन भवनों का निर्माण कराने के लिए लाखों रुपये एकत्र किये। १९३० में गुरुकुल नवीन भूमि पर आ गया। गुरुकुल कांगड़ी की सहयोगी संस्था 'कन्या गुरुकुल देहरादून' का अधिष्ठाता-पद भी आचार्य जी ने सँभाला। कन्याओं के इस प्रसिद्ध प्राच्य शिक्षण-संस्थान का कुशलतापूर्वक संचालन किया। कन्या गुरुकुल से उनका आजीवन सम्बन्ध रहा।

आचार्य रामदेव की गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली को जो देन है, वह तो इतिहास का एक ज्वलन्त पृष्ठ बना ही है, देश की स्वाधीनता के युद्ध में भी उनका अवदान कम नहीं है। जब १९३२ में महात्मा गांधी के नेतृत्व में आज़ादी की लड़ाई का एक नया मोर्चा खुला, तब आचार्य रामदेव ने कांग्रेस के एक अनुशासित सिपाही के रूप में सत्याग्रह किया तथा कारावास का दण्ड भी झेला।

१९३५-३६ में उन्हें आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का प्रधान चुना गया। आचार्य रामदेव का अध्ययन विशाल था। वे उच्चकोटि के चिन्तक, विचारक तथा वक्ता थे। उनकी स्मरणशक्ति अद्‌भुत थी। जब वे व्याख्यान देने के लिए खड़े होते तो प्रमाण-रूप में विभिन्न ग्रन्थों के सैकड़ों उद्धरण साथ ही साथ देते चलते। इसके लिए वे पहले से ही अनेक पुस्तकों को चुनकर मंच पर अपने समीप रख लेते। आवश्यकता पड़ने पर उन ग्रन्थों के सम्बन्धित अंशों

को पढ़कर भी सुना देते। उनके अपरिमित ज्ञान तथा प्रस्तुतीकरण की प्रभावपूर्ण शैली से श्रोता विस्मित और चकित हो जाते। लगातार कई घण्टों तक व्याख्यान देते रहना आचार्यजी के लिए सामान्य बात थी। इतिहास, राजनीति, तुलनात्मक धर्म और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध उनके अध्ययन के प्रिय विषय थे।

व्याख्यान-कला में तो वे निपुण थे ही, लेखन में भी सिद्धहस्त थे। अंग्रेज़ी और हिन्दी, दोनों भाषाओं पर उन्हें असाधारण अधिकार प्राप्त था। उन्होंने गुरुकुल कांगड़ी से 'वैदिक मैगज़ीन' नामक अंग्रेज़ी मासिक का वर्षों तक सम्पादन किया। इसमें ख्यातिप्राप्त लेखकों के लेख प्रकाशित होते थे। रूस के प्रसिद्ध लेखक लियो तॉल्स्तॉय से आचार्य रामदेव का पत्र-व्यवहार हुआ था और इस पत्र-व्यवहार के द्वारा, रामदेव जी ने तॉलस्तॉय को वेद की उदात्त शिक्षाओं से परिचित कराया था। १९१६ में उन्होंने प्रसिद्ध योगी अरविंद को स्वामी दयानन्द के व्यक्तित्व तथा उनके वेद-विषयक विचारों पर दो लेख लिखने का निवेदन किया। फलस्वरूप अरविंद ने इन विषयों पर दो महत्त्वपूर्ण लेख लिखकर 'वैदिक मैगज़ीन' के लिए भेजे। स्वामी दयानन्द के ओजस्वी और महनीय व्यक्तित्व के विवेचन, तथा उनके वेद-विषयक विचारों की मार्मिक व्याख्या की दृष्टि से, ये निबंध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा ऐतिहासिक माने गए हैं।

उनके लिखे ग्रन्थों में 'भारतवर्ष का इतिहास', 'पुराण मत पर्यालोचन' आदि उल्लेखनीय हैं। आर्यसमाज को राजनैतिक षड्यंत्रकारी संस्था ठहरानेवाले लोगों के आक्षेपों का उत्तर देते हुए आपने लाला मुन्शीराम के सहयोग से 'Arya Samaj and its Detractors : A Vindication' नामक श्रेष्ठ पुस्तक लिखी।

९ दिसम्बर १९३९ को आर्यसमाज के इस महान् सेवक का निधन हो गया।

पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय

हिन्दी साहित्य को अपनी दार्शनिक कृतियों से समृद्ध करनेवाले महान् लेखक, तथा वैदिक धर्म की उदात्त शिक्षाओं को ग्रहण करके, स्वयं को श्रेयपथ का अनुगामी बनानेवाले पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय का जन्म ६ सितम्बर १८८१ को, एटा ज़िले के नदरई ग्राम में, लाला कुञ्जबिहारी लाल के यहाँ हुआ। यह ग्राम काली नदी के तट पर बसा हुआ है।

मैट्रिक करने के पश्चात् वे बिजनौर में अध्यापक बन गए। अपने स्वाध्याय को जारी रखते हुए १९०८ में बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। बाद में उन्होंने अंग्रेज़ी साहित्य और दर्शन में एम० ए० किया।

जिस समय वे 'टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज, इलाहाबाद' में अध्यापन-कार्य का प्रशिक्षण ले रहे थे, उस समय हिन्दी के प्रसिद्ध कथाकार प्रेमचंद उनके सहपाठी और मित्र थे। दोनों में अनेक समानताएँ थीं। उपाध्यायजी और प्रेमचंद दोनों ही प्रारम्भिक जीवन में अध्यापक रहे। दोनों का अध्ययन और लेखन से बराबर लगाव रहा। यह दूसरी बात है कि प्रेमचन्द हिन्दी के प्रख्यात कहानीकार तथा उपन्यासकार के



रूप में विख्यात हुए, उपाध्यायजी को अपनी दार्शनिक कृतियों के कारण ख्यांति मिली। प्रेमचंद भी अपने सरकारी सेवा-काल के आरम्भिक वर्षों में आर्यसमाज से जुड़े रहे, और उपाध्यायजी का तो समस्त जीवन ही आर्यसमाज के लिए समर्पित था।

आर्यसमाज के सम्पर्क में आने, और वैदिक धर्म के प्रति आस्थावान् बनाने के लिए उपाध्यायजी ने, स्वामी दर्शनानन्द को श्रेय दिया है। धीरे-धीरे आर्यसमाज के साथ उनका सम्बन्ध घनिष्ठ होता गया। उन्होंने अनुभव किया कि सरकारी सेवा में रहने की अपेक्षा, आर्यसमाज की किसी शिक्षण-संस्था में रहकर कार्य करने से वे धर्म और समाज की अधिक सेवा कर सकेंगे। इस विचार के आने पर उन्होंने सरकारी पैन्शन का प्रलोभन भी छोड़ दिया और डी० ए० वी० हाई स्कूल प्रयाग के मुख्याध्यापक बन गए। १९१८ से १९३६ तक वे इस विद्यालय के प्रधानाचार्य रहे। आर्यसमाज के कार्यों में वे निरन्तर भाग लेते रहे। १९२५ में उन्हें राजाराम हाई स्कूल कोल्हापुर के आचार्य-पद पर नियुक्त किया गया। कुछ काल तक वहाँ रहकर वे पुनः अपने प्रान्त में आ गए।

यद्यपि उपाध्यायजी का प्रमुख क्षेत्र लेखन ही था, किन्तु आर्यसमाज की संगठनात्मक प्रवृत्तियों से भी वे निरन्तर जुड़े रहे। १९४१ से १९४४ तक उन्होंने आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश की अध्यक्षता की। इस अवधि

में समस्त प्रदेश में घूमकर उन्होंने सभा के संगठन को सुदृढ़ बनाया। वे सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के मंत्री भी रहे। १९४६ से १९५१ तक उन्होंने आर्यों की इस सर्वोच्च सभा की सेवा की।

उपाध्यायजी की सिद्धान्त-निष्ठा तथा उनकी प्रचार-प्रणाली से प्रभावित होकर, १९५० में उन्हें दक्षिण अफ्रीका में आमंत्रित किया गया। अगले वर्ष १९५१ में उन्होंने बर्मा, सिंगापुर तथा थाईलैण्ड का भ्रमण किया। अपने व्याख्यानों के द्वारा प्रवासी भारतीयों में वैदिक धर्म का प्रचार किया।

उपाध्यायजी कलम के धनी थे। जीवन के अन्तिम क्षण तक वे अध्ययन और लेखन से जुड़े रहे। १९५९ में जब मथुरा में ऋषि दयानन्द की दीक्षा-शताब्दी मनाई गई, तब उपाध्यायजी की साहित्यिक सेवाओं के उपलक्ष्य में आर्यजगत् की ओर से उनका सार्वजनिक अभिनन्दन किया गया। इस अवसर पर उन्हें एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया गया। तत्कालीन राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद की अध्यक्षता में यह समारोह अत्यन्त उत्साहपूर्ण वातावरण में मनाया गया। २९ अगस्त १९६८ को ८७ वर्ष की आयु में उपाध्यायजी का निधन हुआ।

पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय अपने साहित्य के लिए चिर-स्मरणीय रहेंगे। उन्होंने 'अद्वैतवाद', 'आस्तिकवाद', 'जीवात्मा' तथा 'शांकर भाष्यालोचन' आदि दार्शनिक विषयों पर अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। उनकी पुस्तक

'आस्तिकवाद' को अत्यन्त ख्याति मिली। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने इसे 'मंगलाप्रसाद पुरस्कार' से सम्मानित किया। शतपथ तथा ऐतरेय ब्राह्मण, मनुस्मृति तथा ईशोपनिषद् के सुगम भाष्य भी उन्होंने लिखे।

उपाध्यायजी हिन्दी, अंग्रेज़ी, उर्दू तथा संस्कृत, इन चारों भाषाओं में सफलतापूर्वक लिख सकते थे। 'वैदिक कल्चर', 'फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ दयानन्द', 'वरशिप' आदि उनके उत्कृष्ट ग्रन्थ हैं जो अंग्रेज़ी में लिखे गए। उन्होंने 'आर्य स्मृति' शीर्षक से धर्मशास्त्रीय और नैतिक विषयों पर श्लोकबद्ध ग्रन्थ लिखा। दो खण्डों में 'आर्योदय' शीर्षक सुन्दर संस्कृत-काव्य की रचना की। इसमें भारत के क्रमबद्ध इतिहास के विवेचन के साथ, ऋषि दयानन्द के जीवन को श्लोकबद्ध किया गया है।

उपाध्यायजी ने शताधिक ट्रैक्ट लिखकर वैदिक धर्म के प्रचार में अपना बहुमूल्य योगदान किया। ये ट्रैक्ट इतने लोकप्रिय हुए कि अंग्रेज़ी, उर्दू, गुजराती, मराठी, बंगला आदि अनेक भाषाओं में उनके अनुवाद भी प्रकाशित हुए। एक गणना के अनुसार ये ट्रैक्ट ४० लाख से अधिक संख्या में छपे थे।

स्वामी दयानन्द की अन्य धर्माचार्यों से तुलना करते हुए जो ग्रन्थ उपाध्यायजी ने लिखे, उनसे तुलनात्मक अध्ययन को प्रोत्साहन मिला। उर्दू में इस्लाम पर लिखा गया उनका ग्रन्थ 'मसाबीहुल इस्लाम' को पर्याप्त

लोकप्रियता मिली, क्योंकि शिष्ट और तर्कपूर्ण शैली द्वारा इस ग्रन्थ में इस्लाम की मान्यताओं की सुन्दर समीक्षा की गई है। 'विधवा विवाह चन्द्रिका', 'कम्युनिज़्म', 'हम क्या खा़यें? घास या मांस?' आदि स्फुट विषयों पर लिखी उनकी कृतियाँ भी अत्यन्त लोकप्रिय हुईं। उपाध्यायजी की आत्मकथा 'जीवन-चक्र' शीर्षक से १९५४ में प्रकाशित हुई। इसमें लेखक ने अपने अनुभवों को खुले मन से व्यक्त किया है।

महात्मा आनन्द स्वामी

आर्यसमाज के लिए तन-मन से समर्पित, प्रभावी लेखक, पत्रकार तथा तपस्वी साधक महाशय खुशहालचंद 'खुर्सन्द' ही, संन्यास ग्रहण के बाद महात्मा आनन्द स्वामी के नाम से विख्यात हुए। आनन्द स्वामी का जन्म पश्चिमी पंजाब के ज़िला गुजरात के 'जलालपुर जट्टाँ' में, गणेशदास सूरी नामक एक सद्गृहस्थ के यहाँ १८८३ में हुआ। यही वर्ष ऋषि दयानन्द के निर्वाण का था। इसी वर्ष बालक खुशहालचंद ने जन्म लेकर, ऋषि दयानन्द के आदर्शों को पूरा करने में अपना समस्त जीवन लगा दिया।

खुशहालचंद के पिता गणेशदास सूरी को एक बार स्वामी दयानन्द से भेंट करने का सुअवसर मिला था। वे स्वयं भी आर्यसमाज की विचारधारा में दीक्षित हो चुके थे, अतः बालक खुशहालचंद को भी ऋषि के सिद्धान्तों से परिचित होने में विलम्ब नहीं हुआ।

बाल्यकाल से ही खुशहालचंद की गायत्री-मंत्र में अनन्य निष्ठा थी। वे इस महामंत्र का नित्य नियमपूर्वक पाठ करते थे। कालान्तर में जब लाहौर आए तो उन्हें, आर्यसमाज के लिए कार्य करने का बृहत्तर क्षेत्र मिल गया।



महात्मा हंसराज की प्रेरणा से ही वे लाहौर आए थे, अतः महात्माजी से मिलकर जब उन्होंने आर्यसमाज का कार्य करने की इच्छा व्यक्त की, तो उन्हें आर्य प्रादेशिक सभा के उर्दू मुखपत्र 'आर्य गज़ट' का सम्पादकीय कार्य करने के लिए कहा गया। उनका वेतन तीस रुपये मासिक नियत कर दिया गया। थोड़े समय बाद वे सभा के लेखापाल भी बनाए गए, किन्तु रुपयों-पैसों का हिसाब रखना उन्हें आता ही नहीं था। फलतः वे 'आर्य गज़ट' के सहकारी सम्पादक के रूप में ही कार्य करते रहे। यहाँ उन्होंने 'यंगमैन आर्यसमाज' की स्थापना की; युवकों को दयानन्द के मिशन की पूर्ति के लिए संगठित किया।

उन दिनों लाहौर, भारत की राजनैतिक तथा राष्ट्रीय गतिविधियों का केन्द्र बना हुआ था। खुशहालचन्द वैदिक धर्म के प्रति आस्थावान् होने के साथ-साथ मातृभूमि के भी प्रखर भक्त थे। उनके बड़े पुत्र रणवीर का, शहीद भगतसिंह से सम्पर्क हो गया। दोनों परस्पर मैत्री-सम्बन्ध में बँधकर, देश को आज़ाद कराने की प्रवृत्तियों में संलग्न हो गए। उनका समस्त परिवार ही देशभक्ति के रंग में रँगा हुआ था।

महाशय खुशहालचन्द आर्यसमाज की सभी गतिविधियों में पूरी निष्ठा तथा लगन के साथ भाग लेते थे। १९२३ में वैशाखी के पर्व पर, उन्होंने उर्दू में 'मिलाप' नामक एक दैनिक पत्र निकालना आरम्भ किया, क्योंकि

पंजाब की सार्वजनिक भाषा उन दिनों उर्दू ही थी। इसके प्रकाशन की प्रेरणा उन्हें महात्मा हंसराज ने ही दी थी। शीघ्र ही इस पत्र ने उर्दू-भाषियों में अत्यन्त लोकप्रियता प्राप्त कर ली। देश के स्वतंत्र हो जाने के बाद तो यह दिल्ली, जालंधर, हैदराबाद तथा लंदन से प्रकाशित होने लगा था।

१९३० में महाशयजी ने 'हिन्दी मिलाप' का प्रकाशन भी आरम्भ कर दिया। यद्यपि उन दिनों पंजाब से हिन्दी का पत्र निकालना जोखिम का काम था, इसमें आर्थिक हानि भी उठानी पड़ती थी, तथापि हिन्दी-हित को प्रधानता देने के उद्देश्य से खुशहालचंद जी ने, घाटा उठाकर भी 'हिन्दी मिलाप' को जारी रक्खा।

महाशयजी आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा की संगठनात्मक प्रवृत्तियों में भाग लेते ही थे, सभा के तत्त्वावधान में समय-समय पर चलाए जानेवाले समाज-सेवा के कार्यों में भी उनका पूरा सहयोग रहता था। १९२१ में जब केरल प्रान्त में मोपला मुसलमानों ने हिन्दुओं पर निर्मम अत्याचार किये, तो प्रादेशिक सभा के प्रधान महात्मा हंसराज ने, उन्हें कुछ अन्य साथियों के साथ मलाबार में सहायता हेतु भेजा। आपने निस्सहाय हिन्दुओं के पुनर्वास तथा सुरक्षा का पूर्ण प्रबंध किया। इसी प्रकार कोहाट (सीमान्त प्रान्त) के साम्प्रदायिक उपद्रवों के समय भी आपने सहायता-कार्यों का संचालन किया। क्वेटा (बिलोचिस्तान) तथा बिहार में जब १९३४-३५ में भीषण

भूकम्प आया, तो महाशय खुशहालचन्द ने सभा की ओर से सहायता-कार्यों की देखरेख की। हैदराबाद के आर्य-सत्याग्रह में उन्हें तीसरे सर्वाधिकारी के रूप में वहाँ जाकर सत्याग्रह करने की आज्ञा मिली। फलतः आप २० फरवरी १९३९ को लाहौर से चलकर, २५ फरवरी को शोलापुर पहुँचे। २२ मार्च को सत्याग्रह किया और कारागार की यातनाएँ सहीं। १९४७ में आपको सिंध की राजधानी कराची में सत्यार्थप्रकाश के १४वें समुल्लास पर लगाए गए प्रतिबंध के विरोध में, महात्मा नारायण स्वामी तथा अन्य आर्य नेताओं के साथ सत्याग्रह-हेतु जाना पड़ा।

देश-विभाजन के बाद, आर्य प्रादेशिक सभा का कार्यालय जालंधर आ गया। अब तक खुशहालचन्द जी ने योग-साधन के द्वारा, अपनी आध्यात्मिक वृत्तियों का पर्याप्त परिष्कार कर लिया था। अतः उनमें तीव्र वैराग्य का भाव जागृत हुआ। १९४९ में उन्होंने स्वामी आत्मानन्द सरस्वती से संन्यास ग्रहण किया। तब से उनका नाम महात्मा आनन्द स्वामी रहा।

संन्यास ग्रहण कर लेने के बाद, महात्माजी ने पर्याप्त समय उत्तराखण्ड के वन-पर्वतों तथा उपत्यकाओं में, प्रभु-भक्ति तथा योग-साधना में व्यतीत किया। समय-समय पर वे देश-विदेश में जाकर धर्मोपदेश भी करते रहे। भारत में लगभग सभी स्थानों पर भ्रमण करने के अतिरिक्त वे इंग्लैण्ड, अमेरिका, कनाडा, अफ्रीका, मॉरिशस

आदि देशों में भी धर्म-प्रचारार्थ जाते रहे। परोपकारिणी सभा ने उन्हें १९५५ में अपना सभासद् चुना। वे १९७१ से १९७७ तक इस सभा के प्रधान रहे। उन्होंने आर्य प्रादेशिक सभा की अध्यक्षता भी कई वर्षों तक की। आनन्द स्वामी के बहुत-से प्रवचनों को पुस्तक-रूप में प्रकाशित किया गया है। ये प्रवचन पाठकों में अत्यन्त लोकप्रियता प्राप्त कर चुके हैं। 'प्रभु भक्ति', 'प्रभु दर्शन', 'तत्त्व ज्ञान', 'महामंत्र' आदि उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इस महान् तपस्वी साधक का निधन २४ अक्तूबर १९७७ को नई दिल्ली में हुआ।

देशभक्त कुँवर चाँदकरण शारदा

आर्यसमाज ने देश में धार्मिक एवं सामाजिक चेतना जागृत करने के साथ-साथ, देशवासियों में स्वातन्त्र्य चेतना को भी जगाया है। राजस्थान में सामन्ती शासन-व्यवस्था के विरोध में, लोकतंत्र की आवाज़ को बुलन्द करनेवाले नेताओं में देशभक्त कुँवर चाँदकरण शारदा का उल्लेखनीय स्थान है। अजमेर के एक माहेश्वरी वैश्य-परिवार में २५ जून १८८८ को चाँदकरण शारदा का जन्म हुआ। उनके पिता रामविलास शारदा आर्यसमाज के सक्रिय कार्यकर्ता थे। वे स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित वैदिक यंत्रालय के अधीक्षक होने के साथ-साथ, एक सुयोग्य लेखक भी थे। जिस समय सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना नहीं हुई थी, उस समय पंजाब तथा राजस्थान के जिन आर्य नेताओं ने आर्यसमाज की नीति-रीति का निर्माण करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई, उनमें रामविलास शारदा का नाम अग्रगण्य था।

चाँदकरण शारदा जी का आरम्भिक अध्ययन अजमेर में हुआ। १९०६ में मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात्, उन्होंने एम० ए० और एल० एल० बी० की परीक्षाएँ आगरा



से उत्तीर्ण कीं। आर्यसमाज के प्रति अनुराग यों तो उन्हें पारिवारिक परम्परा से ही प्राप्त हुआ था, किन्तु विद्यार्थी-काल में आगरा में रहते समय उन्होंने 'आर्य मित्र सभा' नामक एक युवक-संगठन की सदस्यता भी ग्रहण की। तब से उनकी सामाजिक कार्यों में रुचि और अधिक बढ़ गई थी।

जीविका-हेतु शारदा जी ने अजमेर में रहकर वकालत करना आरम्भ किया। उन्हीं दिनों कांग्रेस के राजनैतिक कार्यक्रमों की ओर शारदा जी का झुकाव हुआ। वे १९११ में इलाहाबाद में आयोजित कांग्रेस के अधिवेशन में शामिल हुए, जिसकी अध्यक्षता सर विलियम वेडरबर्न ने की थी। शारदा जी श्रीमती एनी बेसेंट के 'होमरूल लीग' आन्दोलन से भी प्रभावित हुए थे। १९१७ से १९२० तक उन्होंने अजमेर में 'होमरूल लीग' का कार्य किया।

महात्मा गांधी ने जब १९२० में असहयोग आन्दोलन छेड़ा, तो चाँदकरण जैसे युवक का उसमें भाग लेना अवश्यंभावी था। इस आन्दोलन में भाग लेने के कारण उन्हें कारागार का दण्ड भोगना पड़ा।

उनका विवाह १९१७ में ही मास्टर आत्माराम अमृतसरी की विदुषी पुत्री सुखदा देवी से हो गया था। सुखदा देवी भी पति के मार्ग का अनुसरण करनेवाली सच्ची सहधर्मिणी थीं। उन्होंने विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार, शराब की दूकानों के आगे पिकेटिंग जैसे रचनात्मक

कार्यक्रमों में सक्रिय रूप से भाग लिया।

कांग्रेस का कार्य ब्रिटिश भारत में तो निर्बाध गति से चल ही रहा था, किन्तु देशी रियासतें दोहरी ग़ुलामी का शिकार थीं। इनके शासक राजाओं को अंग्रेज़ों ने स्वच्छन्दतापूर्वक निरंकुश शासन करने की पूरी छूट दे रक्खी थी। सामन्ती अत्याचारों की कोई सीमा नहीं थी। अज्ञान, अशिक्षा तथा अंधविश्वासों से ग्रस्त राजस्थान के देशी राज्यों की प्रजा, निरंकुश शासकों की दमनकारी नीतियों से पीड़ित एवं त्रस्त थी।

ऐसी विषम स्थिति में चाँदकरण शारदा तथा उनके कुछ साथियों ने १९१८ में दिल्ली में 'राजपूताना मध्यभारत सभा' का संगठन किया। उनके अन्य सहयोगी थे—सर्वश्री जमनालाल बजाज, गणेशशंकर विद्यार्थी तथा विजयसिंह पथिक। देशी राज्यों में उत्तरदायी शासन की स्थापना, तथा इन राज्यों की प्रजा के कष्टों का निवारण, इस सभा के मुख्य उद्देश्य थे। प्रारम्भ में शारदा जी इस सभा के मंत्री रहे। १९३६ में 'देशी राज्य प्रजा परिषद्' का एक बृहद् अधिवेशन पुष्कर में हुआ। शारदा जी इसके स्वागताध्यक्ष बनाए गए। कालान्तर में जब 'अखिल भारतीय देशी राज्य प्रजा परिषद्' का विधिवत् गठन हुआ तो शारदा जी भी इसके साथ जुड़े रहे।

किंतु चाँदकरण शारदा ने कांग्रेस की मुस्लिम तुष्टीकरण की नीति से असंतुष्ट होकर इससे अपना सम्बन्ध

तोड़ लिया। यदि वे कांग्रेस से जुड़े रहते तो वे सम्भवतः राजस्थान के सबसे पुराने राजनैतिक नेता होने के नाते, स्वतंत्रता के पश्चात् इस राज्य के शासन की बागडोर भी सँभालते, परन्तु उन्होंने सिद्धान्तों से समझौता करना तो सीखा ही नहीं था। फलतः वे कांग्रेस छोड़कर, हिन्दू हितों की रक्षक 'हिन्दू महासभा' में सक्रियता से भाग लेने लगे। वे प्रान्तीय हिन्दू महासभा के प्रधान, तथा 'अखिल भारतीय हिन्दू महासभा' के उप-प्रधान रहे।

चाँदकरण शारदा की परिपूर्ण निष्ठा तो आर्यसमाज के लिए ही थी। वे राष्ट्रीय स्तर पर आयोजित आर्यसमाज की प्रत्येक गतिविधि में निष्ठापूर्वक भाग लेते थे। १९२५ में जब मथुरा में स्वामी दयानन्द की जन्म-शताब्दी का समारोह मनाया गया, तब वे उसमें पूरे उत्साह से सम्मिलित हुए। इस अवसर पर सम्पन्न 'आर्य स्वराज्य सम्मेलन' की उन्होंने अध्यक्षता की, तथा 'आर्यकुमार सम्मेलन' में उत्साहपूर्वक भाग लिया।

१९३३ में अजमेर में ऋषि के निर्वाण की अर्द्ध-शताब्दी का आयोजन किया गया। इस बृहद् समारोह को सफल बनाने के लिए चाँदकरण जी ने पूर्ण उत्साह दिखाया, फलतः यह समारोह सफल रहा। वे स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित परोपकारिणी सभा के जीवन-पर्यन्त सदस्य रहे। 'सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा' में उन्होंने वर्षों तक राजस्थान का प्रतिनिधित्व किया। अखिल

भारतीय स्तर पर जब-जब आर्य महासम्मेलन आयोजित किये गए, शारदा जी ने उनमें भाग लिया और अपने प्रेरणाप्रद विचार रक्खे। राजस्थान आर्य प्रतिनिधि सभा के अध्यक्ष-पद पर तो वे कई वर्षों तक आसीन रहे। इस प्रकार प्रान्त में वैदिक धर्म के प्रचार एवं प्रसार में उनका ऐतिहासिक योगदान रहा।

यह सच है कि शारदा जी का जन्म वैश्य-परिवार में हुआ था, किन्तु उन्होंने क्षत्रिय-जैसे गुण प्राप्त किये थे। १९३९ में जब हैदराबाद में निज़ाम-शासन की धर्मान्ध नीतियों के विरोध में आर्यसमाज ने सत्याग्रह का शंखनाद किया, उसमें शारदा जी द्वितीय सर्वाधिकारी के रूप में अपने साथियों के साथ पहुँचे। गुलबर्गा में उन्होंने सत्याग्रह किया और उन्हें पन्द्रह मास का कठोर कारावास का दंड मिला। उन्हें करीम नगर की जेल में रक्खा गया जो निज़ाम राज्य का कालापानी कहलाती थी। वहाँ उन्हें अनेक प्रकार की यातनाएँ दी गईं, किन्तु दयानन्द के इस वीर सिपाही ने इन्हें धैर्यपूर्वक सहा। अन्ततः सत्याग्रह में आर्यसमाज की विजय हुई और १७ अगस्त १९३९ को वे कारागार से मुक्त कर दिये गए। अपने नगर अजमेर पहुँचने पर सत्याग्रह-संग्राम के इस वीर सेनापति का जैसा भव्य स्वागत किया गया, उसकी स्मृति आज भी पुराने लोगों में विद्यमान है।

शारदा जी के जीवन में धर्म के लिए कष्ट सहने का

दूसरा अवसर तब आया जब सिंध की मुस्लिम लीग सरकार ने 'सत्यार्थप्रकाश' के १४वें समुल्लास पर प्रतिबंध लगा दिया। उस समय महात्मा नारायण स्वामी, राजगुरु धुरेन्द्र शास्त्री, महाशय खुशहालचंद तथा घनश्यामसिंह गुप्त आदि आर्य नेताओं के साथ शारदा जी कराची गए और सत्यार्थप्रकाश पर लगे प्रतिबंध को तोड़ा।

महर्षि दयानन्द के जन्म-स्थान टंकारा में 'महर्षि दयानन्द सरस्वती स्मारक ट्रस्ट' का गठन, दानवीर सेठ नानजी भाई कालिदास के आर्थिक सहयोग से किया गया था। इस ट्रस्ट के ट्रस्टियों की बैठक १६ जुलाई १९५१ को हुई। शारदा जी को इस न्यास का मंत्री चुना गया। ट्रस्ट के कार्य को आगे बढ़ाने, तथा महर्षि के जन्मस्थान में उस महापुरुष का एक भव्य स्मारक खड़ा करने के लिए जब पर्याप्त धन की आवश्यकता हुई, तब धन-संग्रह के लिए, चाँदकरण जी ने अफ्रीका की यात्रा की। वे मोम्बासा, नैरोबी, जंजीबार, कुसुमु आदि अनेक नगरों में गए; ताँगानीका एवं उगाण्डा आदि देशों में बसे भारतवासियों के बीच वैदिक धर्म का प्रचार किया। इस प्रकार ट्रस्ट के लिए कुछ द्रव्य एकत्र करने में उन्हें सहायता मिली और वे १९५४ में स्वदेश लौटे।

आर्यसमाज द्वारा प्रवर्तित रचनात्मक कार्यों में, शारदा जी ने मन-प्राण से भाग लिया। अछूतोद्धार, दलितों और विधर्मियों का आर्य धर्म में पुनः प्रवेश, हरिजन-सेवा,

राष्ट्रभाषा-प्रचार, स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार और गोरक्षा जैसे कार्यों में उनकी गहरी रुचि थी। वे ओजस्वी व्याख्याता तो थे ही, सफल लेखक तथा मनस्वी विचारक भी थे। 'शुद्धि चन्द्रोदय' नामक उनका खोजपूर्ण ग्रन्थ उस समय प्रकाशित हुआ, जब पतितों की शुद्धि के लिए शास्त्रीय एवं ऐतिहासिक प्रमाण जुटाना आवश्यक हो गया था। उन्होंने संध्या के मंत्रों की रोचक व्याख्या लिखी। विकासवाद के खण्डन में 'सृष्टि की कहानी' नामक शोधपूर्ण ग्रन्थ की रचना की।

वे सफल पत्रकार भी थे। राजस्थान आर्य प्रतिनिधि सभा के मुखपत्र 'आर्य मार्तण्ड' का उन्होंने सफलतापूर्वक सम्पादन किया। वे अजमेर नगर की शैक्षिक गतिविधियों में भी भाग लेते थे। उनका प्रयास था कि आर्य शिक्षण-संस्थाओं में स्वामी दयानन्द के शिक्षा-विषयक सिद्धान्तों का पूरा पालन हो। पंजाब में जब 'हिन्दी रक्षा आन्दोलन' चलाया जा रहा था, उस समय शारदा जी उसमें सम्मिलित होने के लिए अत्यन्त उत्सुक थे, किन्तु रुग्णता के कारण उनका भाग लेना सम्भव नहीं था। ४ नवम्बर १९५७ को राजस्थान-केसरी देशभक्त कुँवर चाँदकरण जी का निधन हो गया।

प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति

लेखक, पत्रकार, इतिहासकार, स्वतंत्रता-सेनानी तथा वैदिक धर्म के अनन्य सेवक प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति जी, स्वामी श्रद्धानन्द जी के कनिष्ठ पुत्र थे। इनका जन्म ९ नवम्बर १८८९ में ग्राम तलवन (ज़िला जालंधर) में, माता शिवदेवी के गर्भ से हुआ। पं० हरिश्चन्द्र इनसे दो वर्ष बड़े थे। इन्द्र जी पं० जवाहर लाल नेहरू से आयु में मात्र पाँच दिन बड़े थे। यह भी एक संयोग ही था कि दोनों के पिता लाला मुन्शीराम और पं० मोतीलाल नेहरू कॉलेज में सहपाठी और घनिष्ठ मित्र रहे थे। पं० इन्द्रजी को भी पं० जवाहरलाल नेहरू की मैत्री और स्नेह प्राप्त हुआ था। बालक इन्द्र अभी दो वर्ष के ही थे कि उनकी माता शिवदेवी का निधन हो गया। इन्द्र जी का पालन-पोषण उनकी ताई जमुना देवी ने किया।

इन्द्र जी की प्रारम्भिक शिक्षा जालंधर के द्वाबा हाई स्कूल में हुई। १९०२ में जब हरिद्वार के निकट गंगा के परले पार, बिजनौर ज़िले के कांगड़ी ग्राम में महात्मा मुन्शीराम ने गुरुकुल की स्थापना की, उसमें प्रथम प्रवेश अपने दोनों पुत्रों—हरिश्चन्द्र और इन्द्र का ही कराया। ऐसा



करके उन्होंने इस कहावत को चरितार्थ किया था कि अन्यों को उपदेश देने के पहले स्वयं आचरण करना चाहिए। कांगड़ी में आने से पहले यह गुरुकुल, गुजराँवाला में चलाया जा रहा था। इन्द्र और हरिश्चन्द्र का यह गुरुकुल-शिक्षण १९१२ में समाप्त हुआ। पहले उन्होंने 'वेदालंकार', तत्पश्चात् 'विद्यावाचस्पति' की उपाधि ग्रहण की।

विद्यार्थी-काल में ही इन्द्र जी में साहित्य के प्रति रुचि जागृत हो चुकी थी। अब वे लेखक, कवि और पत्रकार के रूप में, अपनी प्रतिभा को प्रदर्शित करने के अवसर तलाश कर रहे थे। छात्रावस्था में खेलों के प्रति भी उनमें गहरी रुचि थी। क्रिकेट और घुड़सवारी उनके प्रिय खेल थे। गुरुकुल के वातावरण तथा शिक्षा ने उनमें राष्ट्रीय विचारों का सूत्रपात तो उसी युग में कर दिया था, जब वे वहाँ पढ़ रहे थे। यही विचार आगे चलकर उनके जीवन-निर्माण में सहायक बने।

गुरुकुलीय शिक्षा समाप्त होने पर, इन्द्र जी ने अपनी इसी मातृ संस्था में गुरु की पदवी प्राप्त की। १९१४ में वे गुरुकुल कांगड़ी में संस्कृत-साहित्य, तुलनात्मक आर्य-सिद्धान्त, तथा इतिहास के प्राध्यापक नियुक्त हुए। १९१७ में उन्हें गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ के मुख्याधिष्ठाता का कार्यभार ग्रहण करना पड़ा। १९२० में वे पुनः गुरुकुल कांगड़ी में सहायक मुख्याधिष्ठाता बनकर आए। १९३४ से

१९६० तक, इसी संस्था के मुख्याधिष्ठाता तथा कुलपति भी रहे। इस प्रकार जीवन का बहुलांश, उन्होंने गुरुकुल कांगड़ी की सेवा में ही व्यतीत किया। प्रो० इन्द्र और गुरुकुल कांगड़ी का सम्बन्ध अत्यन्त प्रगाढ़ रहा।

उन दिनों के गुरुकुल के उत्सव, आर्यसमाज के सिद्धान्तों के प्रचार में सहायक सिद्ध होते थे। गुरुकुल के प्रति जनता का आकर्षण अत्यन्त प्रबल था। हज़ारों नर-नारी पूरे एक सप्ताह का समय निकालकर इन समारोहों में सम्मिलित होते थे। विद्वानों के प्रवचन, गुरुकुलीय छात्रों की वक्तृता, वादविवाद-प्रतियोगिता आदि का सभी आनन्द लेते। ऐसे अवसर पर आर्य विद्वानों के अन्य मतावलम्बियों से शास्त्रार्थ भी आयोजित किये जाते।

एक ऐसा ही अवसर तब आया जब पं० इन्द्र स्नातक बने ही थे। ऋषिकुल हरिद्वार के आचार्य महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी से उन्हें वर्ण-व्यवस्था पर शास्त्रार्थ करना पड़ा। यद्यपि प्रो० इन्द्र ने वर्ण-व्यवस्था को गुण-क्रमानुसार सिद्ध करने का पूरा प्रयास किया, किन्तु प्रतिद्वन्द्वी पं० गिरिधर शर्मा तो आयु तथा अनुभव में उनसे कहीं बढ़कर थे। तथापि, इन्द्र जी ने अपने पक्ष का सफलतापूर्वक प्रतिपादन किया।

इस बीच इन्द्र जी को गृहस्थ-जीवन स्वीकार करना पड़ा। १९१७ में महात्मा मुन्शीराम ने संन्यास की दीक्षा ली, और इसी वर्ष इन्द्र जी के यहाँ पुत्र जयन्त का जन्म हुआ।

इन परिस्थितियों में इन्द्र जी दिल्ली आए और पत्रकार के रूप में देश-सेवा करने का निर्णय किया। उन्होंने 'दैनिक विजय' का सम्पादन आरम्भ किया। दिल्ली से निकलनेवाला हिन्दी का यह प्रथम दैनिक था। इस पत्र में इन्द्र जी के राष्ट्रीय भावनाओं से परिपूर्ण लेख छपते थे। विचारों की ओजस्विता तथा स्वराज्य की तड़प को लेकर लिखे गए इन्द्र जी के लेखों ने धूम मचा दी थी। अब इन्द्र जी केवल मसिजीवी पत्रकार ही नहीं थे, वे सच्चे अर्थों में स्वतंत्रता-सेनानी तथा समर्पित राष्ट्रीय कार्यकर्ता थे।

१९१९ में अमृतसर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, जिसके स्वागताध्यक्ष उनके पिता स्वामी श्रद्धानंद स्वयं थे। यहीं पर उन्होंने लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के दर्शन किये। इस महापुरुष के क्रान्तिकारी विचारों ने उनके राजनैतिक जीवन को नवीन दिशा दी। इन्द्र जी कांग्रेस में खुलकर भाग लेते और इसके अधिवेशनों में नियमित रूप से जाते थे। वे दिल्ली कांग्रेस के सक्रिय कार्यकर्ता रहे। दिल्ली नगर की सार्वजनिक गतिविधियों में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहता था।

पत्रकारिता को प्रो० इन्द्र ने देश-सेवा, समाज-सेवा तथा राष्ट्रभाषा हिन्दी के साहित्य की सेवा का एक महत्त्वपूर्ण साधन माना था। 'विजय' के पश्चात् उन्होंने दिल्ली से 'अर्जुन दैनिक' का प्रकाशन किया, जो अपने ज़माने का अत्यन्त लोकप्रिय राष्ट्रीय पत्र था। इन्द्र जी की

कांग्रेस में जितनी आस्था थी, उतनी ही आर्यसमाज में भी थी। वे 'अर्जुन' के माध्यम से इन दोनों ही संस्थाओं की भरपूर सेवा करते। किन्तु 'अर्जुन' में जब कुछ उग्र तथा सरकार की नज़रों में आपत्तिजनक समझी जानेवाली सामग्री प्रकाशित हुई, तब प्रकाशक के रूप में इन्द्र जी पर विदेशी हुकूमत ने अभियोग चलाया। उन्हें कारागार भेज दिया गया। इस प्रकार 'अर्जुन' के प्रकाशन में बाधा आई।

१९२० से १९४२ तक, देश की आज़ादी के लिए जितने आन्दोलन हुए, इन्द्र जी उन सबमें भाग लेते रहे। वे दिल्ली कांग्रेस कमेटी के प्रधान थे। इस पद पर रहकर उन्हें सभी राष्ट्रीय कार्यक्रमों में न केवल भाग ही लेना पड़ता था, अपितु उनका संचालन भी करना पड़ता था। सन् १९३[illegible] में वे पुनः गिरफ्तार हुए। उन्हें छः मास की क़ैद हुई। कांग्रेस में रहते हुए भी पं० इन्द्र ने, आर्यसमाजी होने के नाते अपनी धार्मिक और सांस्कृतिक आस्थाओं पर कभी आँच नहीं आने दी। वे गांधी की अपेक्षा सरदार पटेल की विचारधारा एवं नीति को अधिक व्यावहारिक, तथा देश के लिए हितकारी मानते थे। उनकी दृष्टि में गांधी की अहिंसा अधूरी तथा अव्यावहारिक थी।

राजनीति और देश की आज़ादी के लिए स्वयं को सर्वात्मना समर्पित कर देने के बावजूद, इन्द्र जी साहित्य-सेवा से विरत नहीं हुए। इतिहास में उनकी गहरी रुचि थी। उन्होंने गम्भीर अनुशीलन के पश्चात् 'मुग़ल

साम्राज्य का क्षय और उसके कारण', 'भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय और अस्त', 'भारत के स्वाधीनता-संग्राम का इतिहास' जैसे महत्त्वपूर्ण इतिहास-ग्रन्थ लिखे। जीवन-चरित एवं संस्मरण-लेखन में उनकी लेखनी अपना चमत्कार दिखाती थीं। फलतः 'नेपोलियन बोनापार्ट', 'प्रिंस बिस्मार्क', 'महर्षि दयानन्द', 'सम्राट् रघु' आदि उनके लिखे जीवन-चरित अत्यन्त लोकप्रिय हुए। 'मेरे पिता', 'मैं इनका ऋणी हूँ' तथा 'मेरे पत्रकारिता-सम्बन्धी अनुभव' उनके प्रसिद्ध संस्मरण-ग्रन्थ हैं। अपने गुरुकुल के अध्ययन-काल में उन्होंने कविताएँ भी लिखीं तथा उपन्यास-लेखन में भी कुछ प्रयोग किये। संस्कृत-भाषा पर उन्हें असाधारण अधिकार प्राप्त था। 'भारतेतिहासः' नामक उनका संस्कृत-काव्य एक पद्यात्मक ऐतिहासिक कृति है।

राष्ट्र, साहित्य, पत्रकारिता आदि के विविध क्षेत्रों में व्यस्ततापूर्ण जीवन-घड़ियाँ बिताने पर भी, प्रो० इन्द्र आर्य-समाज की सेवा के लिए समय निकाल ही लेते थे। उनके जीवन का अधिकांश भाग दिल्ली में व्यतीत हुआ था, अतः राजधानी की आर्यसामाजिक गतिविधियों में उनकी भागीदारी तो अवश्यम्भावी ही थी। जब सिंध में मुस्लिम लीग के इशारे पर 'सत्यार्थप्रकाश' को ज़ब्त करने की बात उठी, तब आर्य जगत् में उसका प्रबल विरोध हुआ। १९४४ में इसी विषय पर विचार करने के लिए सार्वदेशिक आर्य महासम्मेलन डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी की अध्यक्षता में

आयोजित किया था। प्रो० इन्द्र इसके स्वागत-मंत्री रहे। १९४९ में वे सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान निर्वाचित हुए। अनेक वर्षों तक इस पद पर रहकर उन्होंने आर्य जगत् का नेतृत्व किया। वे 'हिन्दी पत्रकार संघ' के प्रधान रहे तथा 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' की गतिविधियों में भी निरन्तर भाग लेते रहे।

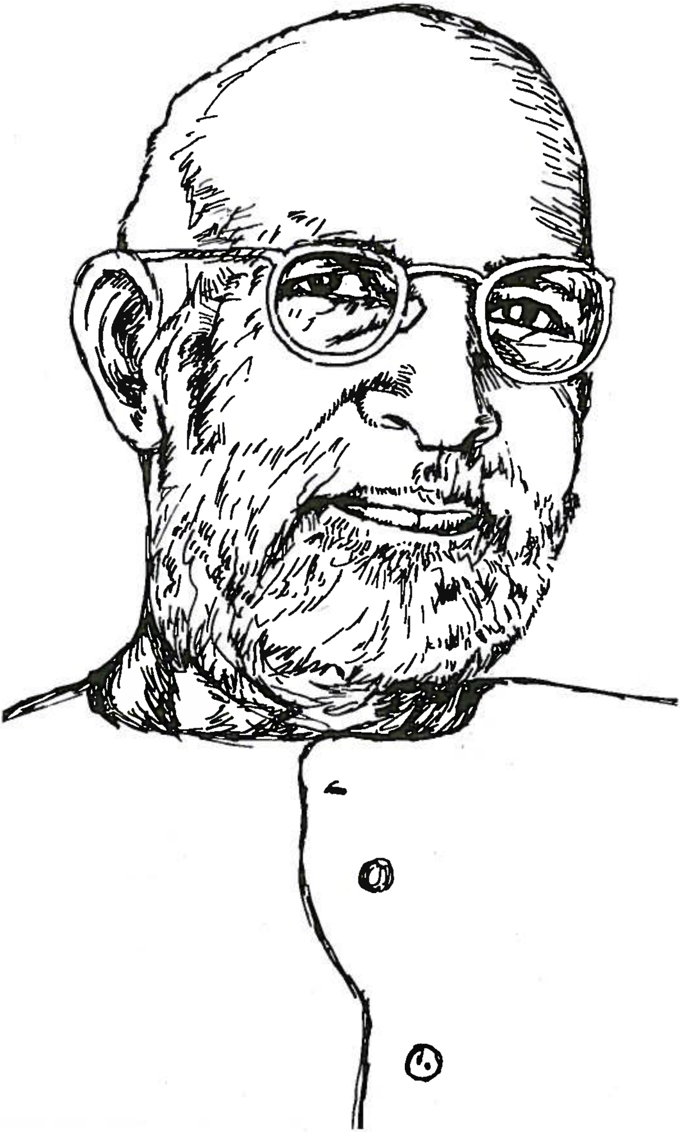
गुरुकुल कांगड़ी से तो उनका सम्बन्ध जीवन-पर्यन्त रहा। उनके कुलपति-पद पर रहते हुए गुरुकुल की स्वर्ण-जयन्ती मार्च १९५० में मनाई गई। इसमें देश के तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद सम्मिलित हुए और उन्होंने स्नातकों को दीक्षान्त-भाषण दिया।

१९५२ में प्रो० इन्द्र राज्यसभा के सदस्य चुने गए। इस प्रकार उन्हें स्वतंत्र भारत में, अपने राजनैतिक जीवन की उपलब्धि को प्राप्त करने का अवसर भी मिला। २२ अगस्त १९६० को भारत और भारती के इस भक्त ने सदा के लिए आँखें मूँद लीं। जीवन-दीप के बुझ जाने के कुछ दिन पहले तक इन्द्र जी की लेखनी बिना किसी व्यवधान के चलती रही। मृत्यु के लगभग दो सप्ताह पूर्व ही उन्होंने अपना 'भारतैतिह्यम्' नामक संस्कृत-काव्य समाप्त किया था।

स्वामी ध्रुवानन्द सरस्वती

पूर्व-जन्म के प्रबल संस्कारों से, २३ वर्ष तक पशु चरानेवाला व्यक्ति भी, आगे चलकर संस्कृत का प्रौढ़ विद्वान्, वक्ता तथा तेजस्वी नेता बन सकता है, इसका उदाहरण यदि हम देखना चाहें तो हमें राजगुरु धुरेन्द्र शास्त्री (स्वामी ध्रुवानन्द) के जीवन पर दृष्टि डालनी होगी। धुरेन्द्र जी का जन्म मथुरा ज़िले के पानी गाँव में एक कुलीन ब्राह्मण-कुल में हुआ। उनके माता-पिता ग्रामीण जीवन जीने के अभ्यस्त थे। परिस्थितियाँ कुछ ऐसी थीं कि उन्होंने इस बालक को पढ़ाने की कोई आवश्यकता ही नहीं समझी। युवावस्था-पर्यन्त वह ग्राम के पशुओं को चराने में ही लगा रहा।

इसी युवक को वीतराग स्वामी सर्वदानन्द जी ने, अपनी संस्कृत पाठशाला के अन्तेवासी छात्रों के लिए, भोजन बनाने हेतु रख लिया। अब यह धूरिया नामक दरिद्र ब्राह्मण, छात्रों का भोजन बनाने लगा। अपनी आयु के छात्रों को संस्कृत पढ़ते देखकर, धूरिया के मन में भी पढ़ने की इच्छा जागृत हुई। उसने अत्यन्त संकोच के साथ, जब अपने मन की इस इच्छा को स्वामीजी के समक्ष प्रकट किया,



तब दयालु आचार्य ने धूरिया को भी अन्य छात्रों के साथ बैठकर पढ़ने की आज्ञा दे दी। इस प्रकार इस बालक का विद्यारम्भ हुआ।

धूरिया में प्रतिभा तो थी ही। अब जो उसे शिक्षा ग्रहण करने का अवसर मिला, तो परिश्रम और प्रतिभा का मणि-काञ्चन-संयोग हो गया! स्वामी सर्वदानन्द जी ने धूरिया का नाम बदलकर धुरेन्द्र नाम दे दिया। १९१९ में धुरेन्द्र ने पंजाब विश्वविद्यालय की शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। 'महाराजा संस्कृत कॉलेज, जयपुर' में नव्य-न्याय का अध्ययन भी किया। तदनन्तर वे काशी गए और वहाँ दर्शनों का विस्तृत अध्ययन किया। स्वामी सर्वदानन्द जी का संसर्ग पाकर धुरेन्द्र जी में आर्यसमाज की सेवा का भाव जागृत हो चुका था।

१९२३ में वे 'शुद्धि सभा, आगरा' में सम्मिलित हुए। अगले वर्ष इस सभा के मंत्री चुन लिये गए। १९२६ में 'शुद्धि सभा' का कार्यालय लखनऊ आ गया; तब धुरेन्द्र जी भी लखनऊ चले आए। १९२६ से १९२८ तक धुरेन्द्र जी ने आर्य प्रतिनिधि सभा बंगाल व बिहार द्वारा संचालित 'गुरुकुल वैद्यनाथ धाम' में आचार्य-पद पर कार्य किया।

इन्हीं दिनों शाहपुरा (राजस्थान) के नरेश ने आचार्यजी को अपनी राजधानी में बुलाया। उन्हें युवराज सुदर्शन देव जी को शिक्षित करने का भार सौंपा गया। राजाधिराज उम्मेदसिंह ने शास्त्रीजी की योग्यता तथा विद्वत्ता से

प्रभावित होकर उन्हें 'राजगुरु' की उपाधि प्रदान की। कालाकांकर, देवास तथा झालावाड़ आदि अनेक राज्यों के नरेशों ने भी शास्त्रीजी को सम्मानित किया और उनके श्रद्धालु भक्त बने। देशी नरेशों के वे सदा श्रद्धाभाजन रहे।

राजगुरु धुरेन्द्र शास्त्री ने 'हैदराबाद आर्य सत्याग्रह' में चतुर्थ सर्वाधिकारी के रूप में भाग लिया। १५०० सत्याग्रहियों के साथ धार्मिक अधिकारों की रक्षा के लिए कारावास की कठोर यातनाएँ सहीं। इस सत्याग्रह में आर्यसमाज की विजय हुई। शास्त्रीजी कारागार से मुक्त होकर जब उत्तर प्रदेश पहुँचे तो स्थान-स्थान पर इस विजयी सेनापति का भव्य स्वागत हुआ। वे संयुक्त प्रान्त की आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान-पद पर निर्वाचित हुए। इस पद पर रहकर आपने आर्य संगठन को दृढ़ किया।

१९४६ में जब सिंध की मुस्लिम लीग सरकार ने 'सत्यार्थप्रकाश' के १४वें समुल्लास पर प्रतिबन्ध लगाया, तब महात्मा नारायण स्वामी, खुशहालचंद खुर्सन्द, चाँदकरण शारदा तथा महाशय कृष्ण आदि आर्य नेताओं के साथ आपने कराची में सत्याग्रह किया।

धुरेन्द्र जी की देश के स्वाधीनता-संग्राम में की गई सेवा भी उल्लेखनीय है। वे महात्मा गांधी के अनुयायी के रूप में विभिन्न राष्ट्रीय सत्याग्रहों में सम्मिलित हुए और कारागार की यातनाएँ सहन कीं। उत्तर प्रदेश तथा बिहार के राजनैतिक नेताओं से आपका घनिष्ठ परिचय था और वे उन्हें अत्यन्त

सम्मान की दृष्टि से देखते थे।

७ जुलाई १९५४ को 'सर्वदानन्द साधु आश्रम' (ज़िला अलीगढ़) में धुरेन्द्र शास्त्री ने सीधे ब्रह्मचर्य आश्रम से संन्यासाश्रम में प्रवेश किया। उनके दीक्षा-गुरु स्वामी आत्मानन्द सरस्वती थे। संन्यासी बनकर वे धर्म-प्रचार के लिए निकल पड़े। तमिलनाडु, कर्नाटक, आंध्रप्रदेश तथा केरल के सुदूरवर्ती प्रान्तों में आपने व्यापक भ्रमण किया। सर्वत्र वैदिक धर्म की दुंदुभि बनाई।

१९५६ में स्वामी ध्रुवानन्द पूर्वी अफ्रीका की प्रचार-यात्रा पर निकले। उगाण्डा, जंजीबार आदि देशों का व्यापक भ्रमण किया। वहाँ से वे बर्मा तथा मॉरिशस गए और जमकर आर्य विचारधारा का प्रचार करते रहे। इस प्रकार लगभग चार वर्षों तक भारत से बाहर रहकर आपने धर्म-प्रचार किया।

स्वामीजी में संगठन-कौशल, सभा-संस्थाओं के संचालन की क्षमता तथा नेतृत्व के सभी गुण थे। 'सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा' ने आपको अपना प्रधान चुना। इस प्रकार भूमण्डल के समस्त आर्यों के नेतृत्व करने का आपको अवसर मिल गया। जहाँ-जहाँ आर्यों में, अथवा उनकी संस्थाओं में, विवाद का कोई स्वर उभरता, स्वामीजी उन-उन स्थानों पर जाकर इनका समाधान करते। आर्यों में उनके प्रति प्रगाढ़ विश्वास था। वे स्वयं भी अनुशासनप्रिय थे और आर्यजनों से भी अपेक्षा रखते थे कि वे भी

अनुशासन का कड़ाई से पालन करें। किसी सभा या संगठन के लिए उसके सदस्यों की सिद्धान्तप्रियता तथा अनुशासनप्रियता को वे आव श्यक मानते थे।

जब आर्यसमाज ने गोहत्या-विरोध में प्रचण्ड आन्दोलन चलाया, तब उसका नेतृत्व भी स्वामी ध्रुवानन्द के कन्धों पर ही आया। स्वामीजी ने भारत में होने वाले गोवध की, क्रूर एवं त्रास दायक समस्या को गहराई से समझा। देश में सर्वत्र घूम कर गोहत्या के विरोध में प्रबल जनमत जागृत किया। १९६४ में आपने सिंगापुर तथा थाईलैण्ड आदि दक्षिण-पूर्वी देशों का भ्रमण किया। वहाँ के प्रवासी भारतीयों को वैदिक धर्म का संदेश दिया।

शास्त्रीजी का शास्त्रीय ज्ञान अत्यन्त विशद तथा प्रामाणिक था। वे आर्यों में प्रचलित कर्मकाण्ड को उसके वास्तविक रूप में अनुष्ठित करने के पक्ष में थे। संध्या एवं यज्ञ आदि के विधि-विधान का ऋषि दयानन्द-निर्दिष्ट पद्धति के अनुसार ही पालन करने-कराने के प्रबल आग्रही थे। यदि वे इस कर्मकाण्ड के आचरण में किञ्चित् भी त्रुटि देखते, या कहीं उन्हें स्वच्छन्दता और मनमानी बात दिखाई पड़ती, तो एक सच्चे उपदेशक के रूप में वे उस त्रुटि की ओर संकेत करते तथा आर्यों से उसे सुधरवा लेते।

१९६५ के जून मास में आप बम्बई पहुँचे। आर्यश्रेष्ठि श्री प्रतापसिंह शूरजी वल्लभदास के कच्छ-कैसल में आपका निवास था। उन्हें २९ जून को प्रातः ही दिल्ली के

लिए वायुयान लेना था। हवाई पत्तन जाने के लिए आप कार में सवार हो रहे थे कि आपको थोड़ी घबराहट के साथ एक वमन हुआ। इससे पहले कि आपको चिकित्सा उपलब्ध कराई जाती, प्रबल हृदयाघात से स्वामी ध्रुवानन्द का निधन हो गया। उनकी अन्त्येष्टि दिल्ली में हुई।

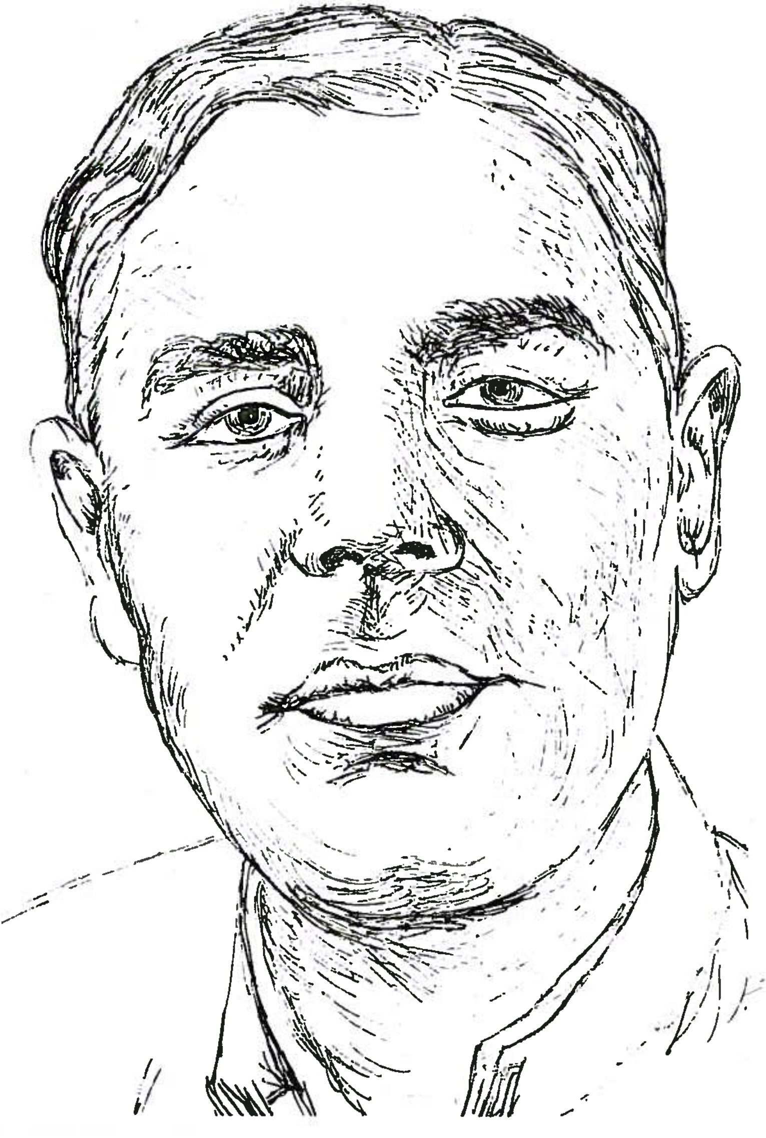
पं० प्रकाशवीर शास्त्री

नेताओं का एक प्रमुख गुण उनकी भाषण-कला मानी जाती है। आर्यसमाज के विद्वानों और नेताओं में, श्रेष्ठ वक्तृत्व के गुण स्वभावतः रहे हैं। यदि व्याख्यान-कला के साथ राजनैतिक सूझ-बूझ, सार्वजनिक जीवन में आनेवाली समस्याओं की पकड़, तथा प्रखर देशभक्ति के भाव भी किसी व्यक्ति में हों, तो इसे सुवर्ण में सुगंध ही मानना चाहिए। आर्यसमाज के नेताओं में पं० प्रकाशवीर शास्त्री एक ऐसे ही महापुरुष थे। गुरुकुल की शिक्षा को समाप्त कर जब उन्होंने व्याख्यान देना आरम्भ किया, तो वे देश के सर्वोत्कृष्ट हिन्दी वक्ता के रूप में पहचाने गए।

एक सफल उपदेशक के रूप में वर्षों तक आर्यसमाज की सेवा करने के पश्चात्, उन्होंने अनुभव किया कि आज की छलछिद्र-पूर्ण राजनीति, देश और समाज के पतन का कारण बन रही है। जब तक इस दूषित राजनैतिक परिदृश्य को बदला नहीं जाता, और नैतिक मूल्यों को महत्त्व देनेवाले युवकों का राजनीति में प्रवेश नहीं होता, तब तक देश का कल्याण सम्भव नहीं है। इसी विचारधारा को स्वीकार कर पं० प्रकाशवीर १९५८ में सक्रिय राजनीति में आए, और जीवन-पर्यन्त देश के सार्वजनिक जीवन के क्षितिज पर, दिव्य प्रकाश देनेवाले नक्षत्र की भाँति चमकते रहे।

प्रकाशवीर शास्त्री का जन्म ३० दिसम्बर १९२३ को मुरादाबाद ज़िले के रहटा नामक ग्राम में, चौधरी दिलीपसिंह त्यागी नामक एक साधारण स्थिति के गृहस्थ के यहाँ हुआ। चौधरी दिलीपसिंह विचारों से आर्यसमाजी थे, इसलिए उन्होंने अपने पुत्र को 'गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर' में प्रविष्ट करा दिया। आपका बचपन का नाम प्रकाशचन्द्र था, किन्तु गुरुकुल में इसी नाम का एक अन्य छात्र भी था, इसलिए आचार्य महोदय ने इन्हें प्रकाशवीर का नाम दे दिया। उन दिनों गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के कुलपति, प्रसिद्ध विद्वान् तथा स्वाधीनता-सेनानी पं० नरदेव शास्त्री थे। आचार्य का पद-भार महान् पण्डित डॉ० हरिदत्त शास्त्री ने सँभाल रक्खा था। इन्हीं गुरुजनों के चरणों में रहकर प्रकाशवीर ने अपनी गुरुकुलीय शिक्षा समाप्त की, और 'विद्याभास्कर' की उपाधि ग्रहण कर वे स्नातक बने। कालान्तर में उन्होंने शास्त्री तथा एम० ए० भी किया। अपने अध्ययन-काल में वे एक परिश्रमी, अध्ययनप्रिय तथा वाक्पटु छात्र के रूप में पहचाने जाते थे।

गुरुकुल से निकलकर प्रकाशवीर शास्त्री 'आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश' के उपदेशक बन गए। उनकी व्याख्यान-कला श्रोताओं पर अद्भुत प्रभाव छोड़ती थी। उनकी भाषा, शैली, अभिव्यक्ति और विषय-प्रतिपादन, सभी कुछ अनुपम था। वे न केवल उत्तर प्रदेश में, अपितु सारे देश के आर्यसमाजों द्वारा वार्षिकोत्सवों में आमंत्रित



किये जाते। जनता उनके व्याख्यानों को मंत्रमुग्ध होकर सुनती। शास्त्रीजी यों तो प्रायः सभी विषयों पर समानरूप से बोलते थे, किन्तु समकालीन राजनीति तथा देश के समक्ष उपस्थित तात्कालिक समस्याओं का रोचक, सारगर्भित एवं प्रभावपूर्ण विवेचन, उनके व्याख्यानों की विशेषता होती थी। वे भारत के अतीतकालीन सांस्कृतिक गौरव का बड़ा मुग्धकारी वर्णन करते। अपनी बात की पुष्टि में तथ्यों की झड़ी-सी लगा देते; भारत के स्वातन्त्र्योत्तर काल की विभिन्न समस्याओं पर वे सटीक विचार प्रस्तुत करते; आर्यसमाज एवं ऋषि दयानन्द की दृष्टि से राष्ट्रीय प्रश्नों का समा धान सुझाते।

उपदेशक होने के नाते उन्हें आर्य उपदेशकों के योगक्षेम की भी चिन्ता रहती। इसी उद्देश्य से उन्होंने 'आर्य उपदेशक सम्मेलन' का गठन किया। लखनऊ तथा हैदराबाद में उसके अधिवेशन आयोजित किये। इनमें उपदेशकों से सम्बन्धित समस्याओं का विवेचन किया गया। उनके मार्ग में आनेवाली कठिनाइयों के समाधान का प्रयत्न हुआ।

आर्यसमाज के द्वारा चलाए जाने वाले आन्दोलनों में भाग लेना तो प्रकाशवीर शास्त्री जैसे कर्मठ तथा जागरूक युवक के लिए आवश्यक ही था। १९३९ के 'हैदराबाद आर्य सत्याग्रह' में जब उन्होंने भाग लिया, तब उनकी आयु मात्र सोलह वर्ष की ही थी। उस समय वे गुरुकुल के विद्यार्थी ही थे। १९५७ में जब पंजाब में हिन्दी की रक्षा के लिए

आर्यसमाज के द्वारा सत्याग्रह छेड़ा गया, उस समय शास्त्रीजी आर्यसमाज के शीर्षस्थ नेताओं की श्रेणी में आ गए थे। फलतः हिन्दी-सत्याग्रह-सम्बन्धी योजनाओं को क्रियान्वित करने, तथा तत्सम्बन्धी सर्वोच्च नीति का निर्धारण करने में उनका महत्त्वपूर्ण सहयोग रहा। इस सत्याग्रह के कारण उन्हें देश में जो ख्याति मिली, उसका ही यह फल था कि वे आगे के वर्षों में लोकसभा के सदस्य चुने गए और अपने राजनैतिक जीवन का विकास कर सके।

१९५८ में जब मौलाना अब्बुल कलाम आज़ाद की मृत्यु के कारण संसद् की गुड़गाँव की सीट खाली हुई, तब प्रकाशवीर जी स्वतंत्र उम्मीदवार के रूप में चुनाव-युद्ध में कूद पड़े। उधर कांग्रेस ने प्रसिद्ध सनातनधर्मी नेता पं० मौलिचन्द्र शर्मा को इस सीट के लिए खड़ा किया। शर्माजी का व्यक्तित्व यों तो पर्याप्त प्रभावशाली था, किन्तु वे जनसंघ के संस्थापक सदस्यों में से एक थे और कुछ समय पूर्व ही, अपनी मातृ संस्था जनसंघ को छोड़कर, कांग्रेस में सम्मिलित हुए थे। जनसंघ के कार्यकर्ता उनके इस प्रकार पाला बदलने से नाराज़ थे, अतः उन्होंने मौलिचन्द्र जी को हराने का पक्का निश्चय कर लिया। उधर जब आर्यसमाजी क्षेत्रों में शास्त्रीजी के द्वारा चुनाव लड़ने के निश्चय की सूचना मिली, तब सम्पूर्ण आर्य-जगत् में प्रसन्नता एवं उत्साह की लहर फैल गई। कार्यकर्ताओं के दल-के-दल शास्त्रीजी के पक्ष में प्रचार करने के लिए एकत्रित हो गए।

आर्यसमाज के उपदेशकों ने भी शास्त्रीजी के पक्ष में प्रचार करने के लिए पर्याप्त समय दिया। इस प्रकार १९५८ में पं० प्रकाशवीर शास्त्री लोकसभा के सांसद बन गए।

संसद्-सदस्य बन जाने पर, शास्त्रीजी के व्यक्तित्व का बहुमुखी विकास हुआ। अब उनका सार्वजनिक जीवन, आर्यसमाज तक ही सीमित न रहकर, राष्ट्रव्यापी हो गया। अनेक सांस्कृतिक तथा साहित्यिक संस्थाओं ने उन्हें अपने समीप लाने में गौरव का अनुभव किया। लोकसभा के सदस्य के रूप में शास्त्रीजी का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रखर तथा तेजस्वी रहा। जब वे सामयिक प्रश्नों तथा राष्ट्र के जीवन-मरण से जुड़ी समस्याओं पर अपनी ओजस्वी शैली में बोलते, तो सारी संसद् मंत्रमुग्ध होकर उनकी वक्तृता को सुनती। उनके धाराप्रवाह भाषण से मानो समय का चक्र भी अवरुद्ध हो जाता।

कांग्रेसी शासन के दौरान राष्ट्र में व्याप्त भ्रष्टाचार, स्वार्थपरता, शासकों तथा राजनीतिज्ञों के दुराचरण, तथा देश के सांस्कृतिक गौरव के प्रति सरकार की उदासीनता जैसे विषयों पर प्रकाशवीर जी के भाषण अत्यन्त प्रभावशाली होते। पं० जवाहरलाल नेहरू जैसा परिपक्व-मस्तिष्क राजनीतिज्ञ भी उनके भाषणों को ध्यानपूर्वक सुनता और सावधानीपूर्वक अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता। शास्त्रीजी ने अपनी राजनैतिक पटुता से नेहरू, लालबहादुर शास्त्री तथा श्रीमती इन्दिरा गांधी जैसे सफल प्रधानमंत्रियों पर

अपने तेजस्वी व्यक्तित्व की छाप छोड़ी। १९७७ में प्रधानमंत्री का पद सँभालनेवाले श्री मोरारजी देसाई तो पहले से ही शास्त्रीजी के गरिमामय व्यक्तित्व से अभिभूत थे। देश के विभिन्न राजनैतिक दलों के नेता शास्त्रीजी का सम्मान करते थे।

आगे के चुनावों में भी शास्त्रीजी को सफलता मिली और वे १९६२ तथा १९६७ के चुनावों में सफल होते रहे। १९७१ में आई इंदिरा-लहर में वे अवश्य पराजित हुए, किन्तु तत्काल बाद ही जनसंघ ने उत्तर प्रदेश से उन्हे राज्यसभा का सदस्य चुनकर भेजा।

यद्यपि पं० प्रकाशवीर शास्त्री सदा निर्दलीय के रूप में ही चुनाव लड़ते थे, किन्तु अपनी योग्यता, देशभक्ति तथा अनुपम व्यक्तित्व के कारण वे सभी राजनैतिक दलों के सदस्यों में समान रूप से लोक प्रिय रहे। सम्भवतः उनके राजनैतिक जीवन की एकमात्र भूल १९७६ में आपातकाल के समय उनका कांग्रेस में सम्मिलित होना ही थी। इसका परिणाम भी उन्हें भोगना पड़ा। वे १९७७ के चुनावों में पराजित हो गए।

शास्त्रीजी कुशल वक्ता तो थे ही, अच्छे लेखक भी थे। कश्मीर-समस्या तथा गोरक्षा जैसे प्रश्नों पर उन्होंने विचारोत्तेजक पुस्तकें लिखीं। २३ नवम्बर १९७७ को एक रेल-दुर्घटना में इस महाप्राण व्यक्तित्व का निधन हो गया।

□□□

गोविन्दराम हासानन्द की स्थापना के 85 वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष्य में इन महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का प्रकाशन किया गया—

वेद-मंजरी पृष्ठ संख्या 432

आचार्य रामनाथ वेदालंकार

पुनः प्रकाशित 432 पृष्ठों का यह ग्रन्थरत्न ऐसे 365 वेद मन्त्रों की हृदयहारी व्याख्या है, जिसे वर्ष के हर महीने आचरण में लाया जाये, प्रति सप्ताह जीवन में चरितार्थ किया जाए, और वर्ष के प्रत्येक दिन मनन किया जाए।

षड् दर्शन समन्वय पृष्ठ संख्या 224

डॉ. प्रशान्त

प्रस्तुत ग्रन्थ को दो इकाइयों में विभाजित किया गया है—प्रथम इकाई—छः दर्शनों का यथार्थ समन्वय। छः शास्त्रों के पूर्वापर के क्रम को उनके नामकरण, उनके उद्देश्य, उनकी प्रतिपादित विद्याएँ और अनेकानेक अन्तः साक्ष्यों की सहायता से सिद्ध किया गया है।

इकाई 2—छः दर्शनों का संक्षिप्त स्वरूप छः शास्त्रों की विद्याप्रतिपादन और क्रम निरूपण की दृष्टि से प्रथम पाद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

सन्ध्या योग ब्रह्म-साक्षात्कार (सचित्र) पृष्ठ संख्या 274

ब्र. जगन्नाथ पथिक

पुनः प्रकाशित यह ग्रन्थ वैदिक सन्ध्या की वैज्ञानिक व्याख्या है जो मानव-मात्र के सभी दुख-दर्द और पापों का नाशकर उसे लौकिक सुख-समृद्धि के साथ-साथ आध्यात्मिकता के दिव्य प्रसाद से समृद्ध कर देनेवाला भी होगा।

आर्य साहित्य भवन

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द